नीति-सुधा-तरङ्गिणी



लेखक—

पं० रामप्रसाद तिवारी

नीति-सुधा-तरङ्गिणी

लेखक

श्रीयुत पं० रामप्रसाद तिवारी

संपादक

श्रीराघवेन्द्रशर्मा त्रिपाठी "व्रजेश"

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस लखनऊ

{ पञ्चम आवृत्ति २००० } १९२७ ई० { मूल्य ॥) }

प्रकाशक

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

मुद्रक

केसरीदास सेठ, सुपरिंटेंडेंट,

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ।

समर्पण

नीति-सुधा-तरङ्गिणी ।

श्रीमान् सकलगुणनिधान महाराजाधिराज भारतखण्डवरताराग़णसमुदाय वीरावतंसनायक सर विलियम म्यौर साहिब लेफ्टिनेंट गवर्नर बहादुर पश्चिमोत्तरदेशाधिकारी का आज्ञापत्र नम्बर ७९१ लिखा २० अगस्त सन् १८६८ ई० के

आशयानुसार

ज़िले इलाहाबाद परगने सोराम ग्राम लेहरा के निवासी पण्डित रामप्रशाद तिवारी ने अपनी उक्ति युक्ति और प्राचीन समीचीन ग्रन्थों की सहायता से निर्मित करके उक्त श्रीमान् महाराजाधिराज की शरण में अर्पण की ॥

करना व्यर्थ है बरन् उसकी ठौर उस जगत्पालक दुष्टघालक प्रभु का धन्यवाद करना चाहिये कि जिसने इस देश पर अपार करुणा की अर्थात् भारतखण्डरूपी पुष्पवाटिका को जो अन्यायी राजाओं के अन्यायरूपी ज्वाला से तप्यमान थी और वृक्षरूपी प्रजाओं पर उनके आग्रह और अधर्म की इतनी आंच हुई कि उनका सुख चैन और धर्मरूपी फल फूल मूर्च्छित होके शुष्क हुआ चाहता था तिसकी रक्षा और प्रफुल्लता के लिये श्रीमान् नीतिज्ञशिरोमणि अंगरेज़ महाशयों के आधीन की जिन्होंने उक्त वाटिका को न्यायरूपी जल से सींच के प्रफुल्लित कर दिया श्रीमान् अंगरेज़ी गवर्नमेण्ट के सद्गुण और सत्कर्म और नीतिज्ञता और प्रजापालन और धर्मशास्त्र के अनुसार न्याय करना ऐसा काम नहीं है कि उसका धन्यवाद सहस्र जिह्वाओं से पूरा हो सके तथापि प्रजा को चाहिये कि जिस दयालु राजा की करुणा-कटाक्ष से अपना प्रतिपालन और भलाई हो उस प्रभु का धन्यवाद अपनी सामर्थ्य भर करे सो इस देश की प्रजा आरम्भ ही से अन्तःकरण के द्वारा गवर्नमेण्ट अंगरेज़ी का अनन्त धन्यवाद करती आती है परन्तु प्रकट धन्यवाद करने में इस कारण अशक्त थी कि यहां की देशभाषा और देशविद्या राजकाज में प्रचलित नहीं है और प्रजा के निकट उक्त गवर्नमेण्ट के प्रबन्ध में इतनी ही बात की त्रुटि है इस त्रुटि के शोधन का उपाय भी गवर्नमेण्ट की ओर से सन् १८४६ ई० से आरंभित हुआ कि उस प्रवृत्त वर्ष में विद्या-गुणनिधान राज्याधिकारियों में प्रधान श्रीमान् विज्ञातिविज्ञ तास्मन् साहिब बहादुर परलोकवासी ने इस पश्चिमोत्तर देश में विद्याप्रचार का प्रकरण स्थापित किया और देव-

नागरी में पुस्तकें बनवाईं और सब तहसीलियों में पाठशालायें बैठालीं दृढ़ निश्चय था कि अब तक यहां की देशभाषा अपने पृथ्वीनाथ के राजकाज में प्रचलित हो जाती जो सन् १८५७ ई० का देशोपद्रव बीच में विघ्नकारी न होता कि जिसके कारण देशाधिकारियों को बहुत बड़े २ उद्योग और श्रम करने पड़े परन्तु अब परम शुभ समय आया देश का दुःख मिटाया प्रजारूपी कुई के प्रफुल्लित करने और मूर्खतांधकार हरने के लिये पूर्ण चन्द्रमा के समान द्युतिमान् श्रीमान् महाराजाधिराज सकलगुणगणसमाज प्रजापालक दुष्टघालक विद्यामोदसागर परमउजागर यशस्वी तेजस्वी भारतखण्डवरतारागणसमुदायवीरावतंसनायक सरविलियमम्यौर साहिब बहादुर इस पश्चिमोत्तर देशीय राज्याधिकार पर उदय होकर विराजमान हुये कि जिन्होंने इस महत्प्रतिष्ठित अधिकार पर सुशोभित होते ही विद्यावृद्धि के विषय आज्ञापत्र प्रकाशित किया सो उक्त श्रीमान् का आज्ञापत्र इस भिक्षुक को श्यामघटा के समान नेत्रगोचर हुआ उक्त घनघटा की छटा देख लेखनीरूप मयूर ने अपने उत्साह का समय जान हर्षवान् हो शास्त्ररूपी वन से उचित और उत्तमाशय लताओं और सत्कथाओं की छवि की सहायता और चित्त की अनुकूलता से नृत्य का आरंभ किया उस समय गात्रविक्षेप अर्थात् गतिचेष्टा करने और नीचे ऊंचे दायें बायें हिरने फिरने से जो वर्ण स्वर बिन्दु विसर्ग अनुस्वार की रेखा होतीं और परस्पर मिलती जुलती गईं उनसे एक स्थलवीथी बनती गई और उस समय विद्यानुराग के उस उमंग रंग की मग्नता में बुद्धि के प्रेमानन्दरूपी नेत्रों से जो नीतिशिक्षा रूपी धारा बही सो

उक्त वर्णस्वरविसर्गानुस्वाररूपी स्थलवीथियों में ठहरती और भरती गई अंत में इतना आशयसुधा बटुरा कि सब मिल के एक छोटी नदी का सा रूप बन गया और उसमें कई तरंगें दीखने लगीं तब उक्त भिक्षुक ने इसके गुण और स्वरूप का विचारांश करके इस काव्यरूपी नदी का नाम नीतिसुधातरङ्गिणी रक्खा और यह अनुमान किया कि जब तक नदी समुद्र में नहीं मिलती तब तक प्रामाणिक नदी नहीं कहलाती और न उससे सर्वदैशिक उपकारही हो इसलिये इसको भी उचित है अपने मूल उत्पत्तिकारण की शरण में मिले सो यह नीतिसुधातरङ्गिणी उक्त श्रीमहाराजाधिराज के दयासागर में मिलने को जाती है आशा है कि प्रशंसित महाराज के कृपासमुद्र के सत्कार और आदर से कृतार्थ और सफल होकर बड़ी २ काव्यनदियों के बीच प्रतिष्ठा पावे और प्रामाणिक नदी कहावे और आश्चर्य नहीं कि पूर्व वर्णित महाराज की उदारतारूपी वृष्टि होने और अमृतरूपी जल पाने पर गम्भीर धारा होकर अनेक जीवों को लाभदायक और उपकारिणी हो ॥

सम्पादकीय वक्तव्य

इस पुस्तक के विषय में हमें कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि पुस्तक का विषय इसके नाम से ही प्रकट है और रही-सही बातें—अर्थात् यह किस अभिप्राय से और कब लिखी गई, इत्यादि—लेखक ने स्वयम् अपनी भूमिका में स्पष्ट करदी हैं। मुझे केवल दो बातों पर किंचित् प्रकाश डालना है—प्रथम, पुस्तक की उपयोगिता और दूसरे, उसके वर्त्तमान संस्करण पर।

इसका निर्माण, जैसा कि लेखक ने इसे समर्पण करते हुए स्वयम् कहा है सन् १८८६ ई० अर्थात् सम्वत् १९२५ में हुआ। "विनोदकारों" के नियमानुसार यह रचना "दयानन्द काल" (सम्वत् १९१६–१९२५) के अन्त की तथा "वर्त्तमान हिन्दी काल" (सम्वत् १९२६) के आरंभ की है। इस समय वर्त्तमान हिन्दी गद्य-पद्य-साहित्यकों का प्रादुर्भाव होरहा था। भारतेंदु-काल सम्वत् १९२६ से ४५ तक माना जाता है। परन्तु यह पुस्तक इससे निश्चित काल से प्रथम ही रची जाचुकी थी। अस्तु, कहना न होगा कि यह ऐसे समय लिखी गई जब गद्य-साहित्य का बिलकुल प्रचार न था। इसके पूर्व राजा लक्ष्मणसिंह ने व्रजभाषा और खड़ी बोली गद्य के अनुवाद-ग्रंथ रचे अवश्य थे, परन्तु उस समय उनका प्रचार बिलकुल न था। इनके

अतिरिक्त और जो कुछ भी उस समय गद्य-साहित्य था, वह सभी धार्मिक था। अस्तु, ऐसे समय इस उत्कृष्ट बाल-साहित्य के निर्माण करने के लिए लेखक हमारी कृतज्ञता का पात्र अवश्य है।

यह पुस्तक ऊच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी है। इसमें मनोहर कहानियों के द्वारा सदाचार और नीति की शिक्षा दी गई है जिनका प्रभाव विद्यार्थियों के नवीन हृदयों पर पड़ना अवश्यम्भावी है।

संशोधन के विषय में हमें केवल इतनाही कहना है कि जिस समय इसकी रचना हुई थी, हिन्दी का अच्छा संस्कार नहीं हुआ था। विराम आदि चिह्नों का तो प्रयोग ही न था। भाषा पर भी व्रजभाषा की छाप थी। क्रियाओं और छोटे-छोटे वाक्यों का उचित व्यवहार उस समय भले ही हो, परन्तु इस पुस्तक में न था। आजकल के विद्यार्थियों के लिए इन सभी बातों का होना आवश्यक है। यही समझकर इसका संशोधन किया गया है। फिर भी नमूने के लिए "समर्पण" और "लेखक की भूमिका" पूर्ववत् रहने दी गई है। इनमें फिर भी अनियमितता कम है लेकिन पाठ्य विषय में संशोधन करते हुए हमें बड़ी कठिनाइयाँ हुई हैं।

संशोधन कैसा हुआ है, यह पुस्तक के पढ़ने से ज्ञात हो जायगा। फिर भी हमें कहना यह है कि इसका उचित परिष्कार नहीं किया जासका। इसको पुनः लिखने की आवश्यकता थी। प्रेस के काम में भी बहुत त्रुटि रह गई है। यदि इसके पुनः संस्करण का सौभाग्य

हुआ तो रही-सही कमी पूरी हो सकती है। अस्तु, आशा है, इसके लिए विज्ञपाठक हमें क्षमा करेंगे।

हमने सोचा था कि लेखक महोदय का कुछ परिचय भी इसके साथ दे देंगे। परन्तु खेद है कि कई पत्र लिखने पर भी "लेहरा" से हमें कोई उत्तर न मिला। हम आशा करते हैं, लेखक प्राचीन और प्रतिष्ठित होने से हिन्दी-इतिहास-निर्माण-कर्त्ता इन्हें भूलेंगे नहीं।

गोनी, अतरौली,
जिला हरदोई।
वसन्त पंचमी, सम्वत् १९८३

विनयावनत
श्रीराघवेन्द्रशर्मा त्रिपाठी
"व्रजेश"

विषय-सूची

नीति-सुधा-तरंगिणी।

प्रथम तरङ्ग।

विद्याकी उत्तमता और श्रेष्ठता।

कोशलदेशमें वागीशशर्म्मा नामक एक विद्वान् रहते थे। वे षट्शास्त्र आदिमें निपुण और सम्पूर्ण कलाओंमें विचक्षण थे। उनका यह काम था कि अनेक देश-देशान्तर-के जो विद्यार्थी उनके यहाँ पढ़ने आते, उन्हें आदरपूर्वक विद्या पढ़ाते और उनके ग्रासाच्छादनका उपाय भी कर देते। कितनोंको आप स्वयम् देते और कितनोंको धनवानों और राजाओंसे कहकर दिला देते थे।

उनके पुत्रका नाम विद्यानिधि था। पहले वह भी अपने पिताके पास ही पढ़ता रहा। फिर युवा होनेपर काशीमें स्थिर होकर उसने बहुत दिन तक अध्ययन किया। जब वह सम्पूर्ण शास्त्रोंको पढ़ चुका तो अपने पिताके निकट आया और अपने पढ़ने का सब वृत्तान्त कहा। पिताको पुत्रका पाण्डित्य देखकर बहुत प्रसन्नता हुई।

कुछ दिनोंके व्यतीत होनेपर विद्यानिधिके हृदयमें देशा-टनकी अभिलाषा हुई। उसने अपने पितासे हाथ जोड़कर कहा कि मुझे देशाटनकी इच्छा है, यदि आपकी आज्ञा हो

तो किसी बड़े राज-दरबारमें जाकर विद्याका प्रकाश करूँ। क्योंकि जब तक महाराजोंके यहाँसे विद्वानोंका आदर-सम्मान नहीं होता तब तक विद्याकी शोभा नहीं होती और न विद्वान्को ही विद्या पढ़नेका सुख प्राप्त होता है। विद्यानिधिकी यह बात सुनकर वागीशशर्म्मा ने उससे कहा कि तूने यह बात विना विचारे कही है। यह सच है कि राजसम्मान, शत्रुका जीतना, पुत्रका जन्म और वाञ्छित धनके लाभमें प्रत्येकको सुख होता है; परंतु तेरा यह कहना कि विद्या पढ़नेका सुख केवल राजा-के सम्मानके आधीन है, उलटा कहा। क्योंकि राज-दरबार संसारके समान है और विद्वान् सूर्य्यके समान। सूर्य्योदयके प्रकाशसे संसार प्रकाशित होता है, लेकिन संसारसे सूर्य्य प्रकाशित नहीं होता। आज मुझे बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि तूने सम्पूर्ण वेद, वेदाङ्ग षट्शास्त्र आदि पढ़कर भी ऐसी बात कह दी जैसी प्रायः अज्ञानी लोग कहा करते हैं। जान पड़ता है कि विद्या और विद्वत्ताके वास्तविक वस्तु-तत्त्वपर तुम्हारी दृष्टि नहीं पड़ी—अथवा ऐसे काव्य और इतिहासोंके अव-लोकनसे, जिनमें राज्य-श्रीका विशेष वर्णन होता है, तुम्हारे मनने बाहरी छवि और चमत्कारितापर लोलुप हो-कर बुद्धि को दबा दिया है जिससे तुमने ये बातें कहीं। यह बात छिपी नहीं है कि तुमने सम्पूर्ण वेदाङ्ग, शास्त्र और साहित्यको भली-भाँति पढ़ा है और जानते हो, फिर भी तुमने विद्यारूपी ऐश्वर्य्यको धनसे तुच्छ समझा। इसके दो कारण हैं—एक तो तुमने विचारांश नहीं किया दूसरे कुछ लोभका भी समागम होगया है।

लोभ ऐसा पदार्थ है कि बड़े-बड़े गुणोंको तुच्छ कर देता है।

श्लोक।

यशो यशस्विनां दिव्यं, श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोपि तान् हन्ति, चित्रं रूपमिवेप्सितम् ॥

थोड़ा लोभ भी बड़े-बड़े यशस्वियोंके यश तथा गुणियोंके उत्तम गुणोंको ऐसे नष्ट कर देता है जैसे थोड़ेसे फूल पड़जाने से शरीरकी सब शोभा नष्ट होजाती है। इसलिये विद्वानोंको ऐसा लोभ-ग्रस्त न होना चाहिए जिससे अपनी विद्याके रूप तथा गुणको भूल जाएँ। विद्वान् शब्दका आशय यही है कि सत्य-असत्य वस्तु समझकर सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करे और विचारांश करके नवीन युक्ति और आशयोंको बुद्धिमानीसे निकाले। जहाँ-कहींसे उत्तम-पदार्थ मिलसके, उसके प्राप्त करनेमें आलस्य न करे। जैसा नीतिमें कहा है—

श्लोक।

विषादप्यमृतं ग्राह्यममेध्यादपि काञ्चनम्।
नीचादप्युत्तमां विद्यां स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥

यदि विषमें अमृत हो, अशुद्ध स्थानमें सुवर्ण हो, नीचके पास विद्या हो और नीच कुलवालेके यहाँ स्त्री-रत्न हो, तो भी इनका ग्रहण करना नीति है। यह कदापि न सोचना चाहिए कि हम श्रेष्ठ होकर नीचसे विद्या कैसे सीखें। ऐसा सोचनेसे मनुष्य सम्पूर्ण विद्याओंको प्राप्त नहीं कर सकता है; क्योंकि चौदह विद्या और उन्हींकी चौंसठ कलाएँ होती हैं और इनमें भी एक-एकके कई-कई भेद होने-से अनेक प्रकारकी होजाती हैं। यह बात निश्चित है कि सब

विद्याएँ प्रत्येक व्यक्ति नहीं जानता। भाँति-भाँति के मनुष्यों में भाँति-भाँति के गुण और विद्या होतीहै और मनुष्य-कोटि में उच्च नीच सभी होते हैं। जो मनुष्य विद्या-ग्रहणमें उच्च-नीच का भेद मानता है वह विज्ञ नहीं हो सकता। विद्वान् लोग जड़ वस्तुओंसे भी शिक्षा ग्रहण करते हैं। मनुष्य तो चैतन्य है। सबकी आत्मा एक सी है। केवल जगत्के प्रबन्धकी सुगमताके लिये अनेक भेद किए गए हैं। मनुष्यकी बड़ाई पाँच वस्तुओंसे होती है उनमें प्रथम विद्या है। जैसा कि नीतिमें लिखा है—

श्लोक ।

विद्यया वपुषा वाचा, वस्त्रेण विभवेन च ।
वकारैः पञ्चभिर्युक्तो, नरः प्राप्नोति गौरवम् ॥

विद्या, वपु (शरीर), वस्त्र, वचन और विभव (धन) इन्हीं पाँचों वकारोंसे मनुष्य बड़ाईको प्राप्त होता है। जिसमें विलक्षण विद्या-बुद्धि होती है वह नीचकुलका होने पर भी विद्वान् लोग उसको आदरकी दृष्टि से देखते हैं। जैसा कि कहा गया है—

श्लोक ।

किं कुलेन विशालेन, विद्याहीनेन साधुना ।
अकुलीनोपि यो विद्वान्, देवताभिः स पूज्यते ॥

वह उत्तम तथा श्रेष्ठ कुल, जिसमें विद्या नहीं किस काम का है। नीच कुलमें भी जो विद्वान् होता है उसको देवता लोग पूजते हैं। विद्वान् और पण्डित शब्दका व्यवहार संसार में दो प्रकारसे होता है। एक तो वे विद्वान् पण्डित जो वेद-वेदांगसे परिपूर्ण होते हैं। ऐसे बहुधा बिरले होते हैं। और दू रे वे भी विद्वान् पण्डित कहलाते

हैं जिनको भली-भाँति अक्षरका भी ज्ञान नहीं होता; परन्तु वे विद्वान्‌का वेष बनाकर पण्डित कहलाते हैं। इनके विषय में किसी चतुर कविने कैसा अच्छा कहा है—

श्लोक।

भला जामा, भला सामा, सुंदरी, मुंदरी भली।
अक्षरं नैव जानाति, हाँ जी हाँ जी पुनः पुनः॥

पण्डा उस बुद्धिको कहते हैं जिससे सत्-असत्-विवेककी सामर्थ्य हो और जिसमें ऐसी बुद्धि हो उसे पण्डित कहना चाहिए। मनुष्य जिस नामको धारण करता है यदि उस नामके गुण उसमें न हुए तो, उसको पग-पग पर लज्जा और अशोभा प्राप्त होती है। विद्वान् और पण्डितके शब्दसे वही शोभित होता है जिसमें विद्या और पाण्डित्य हो। विद्या ऐसा रत्न है जिसके समान पृथ्वीतलमें कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु विद्याके शब्दसे बहुधा लोग यही समझते हैं कि कवल लिखना-पढ़ना ही विद्या है। यह बात नहीं। यद्यपि लिखना-पढ़ना विद्याका सर्वोपरि और मुख्य रूप है; और जैसा कि ऊपर कह आये हैं विद्याके अनेक भेद हैं। ये सब भेद पुस्तकोंमें लिखे नहीं होते। प्रसंग और संयोग पाकर अभ्यासी विद्वानोंके अन्तःकरणसे प्रकट होते हैं। वर्षा-ऋतु को पाकर जिस प्रकार पृथ्वीसे अनेक तरहके अन्न, वृक्ष और घास उपजती है, जिसके द्वारा मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जीवोंका पालन होता है, उसी प्रकार विद्वानोंकी गति है। उनके प्रकटित किए हुए विद्या-गुणोंसे सारी सृष्टिका निर्वाह होता है।

जब ईश्वरने सृष्टिको बनाया तो उसके प्रबन्धके लिये विद्वानोंको उत्पन्न किया जिन्होंने संसारके उपकारार्थ

भाँति-भाँति की रचना और युक्ति प्रकट की। प्रजाके लिये सर्वोपरि उपकारक शिल्प-विद्या है, जिसके विना क्षणमात्र निर्वाह नहीं हो सकता। इसके प्रवर्तक भरतखण्डमें मुख्य दो ही विद्वान् हुए हैं—देववर्गमें विश्वकर्म्मा और दैत्यवर्गमें मय-नाम दैत्य। इन दोनों शिल्प-कर्त्ताओंकी रचनाका वृतांत हमारे पुराने इतिहासोंमें अच्छी-प्रकार मिलता है। विश्वकर्म्माके बनाये हुए पुष्पक विमानकी चमत्कारिताका वर्णन वाल्मीकीय रामायणमें मिलता है जिस पर चढ़कर मर्य्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी आकाशमार्ग से होते हुए बहुत शीघ्र लङ्कासे अयोध्या पहुँच गए थे। मयकी रचनाका वृत्तांत महाभारतमें लिखा है। उसने राजा युधिष्ठिरके यहाँ एक अपूर्व और अद्भुत सुधर्मा नामकी सभाकी रचना की थी, जिसकी विचित्रताका वर्णन महाभारतमें लिखा है। उसके सिवाय भारतवर्ष में जितने यन्त्र और अस्त्र-शस्त्र हैं सब विश्वकर्म्माके निकाले हुए हैं। खेतीके लिये उपयोगी हल, जूआ, फरसा, कुदार, ईख पेरनेके लिये कोल्हू, सूत कातनेके लिये चरखा आदि इसीप्रकारकी जितनी निर्वाहक वस्तुएँ हैं सब विश्वकर्म्माकी बनाई हुई हैं। यदि वे इस प्रकार अपनी बुद्धिके तर्क-बलसे इतनी युक्ति न निकालते तो संसारका निर्वाह किस प्रकार होता? इन साधारण और स्थूल रचनाओंकी विशेष सूक्ष्म-रचनाकी प्राक्रियाके ग्रन्थ विश्वकर्म्मा और उनके पीछे जो शिल्प-शास्त्र-वेत्ता हुए हैं उन्होंने बहुत बनाए हैं; परन्तु वे ग्रन्थ अधिक समय बीतने से गुप्त हो गये हैं।

इसी प्रकार वैद्यक शास्त्रके आदि प्रवर्तक अश्विनीकुमार

और धन्वंतरि हुए हैं, जिन्होंने मनुष्योंकी आरोग्यता और सुखके लिये वैद्यक-शास्त्रको बनाया है। इसमें तीन विषयोंका वर्णन किया है—निदान, निघंटु और चिकित्सा। पूर्व कारणको निदान कहते हैं, जिसमें सम्पूर्ण रोगोंके उत्पन्न होनेका कारण, उत्पत्ति, लक्षण, उनका उपद्रव, भेद, साध्यासाध्य परीक्षा, आहार-विहार, रोग के घटने-बढ़ने का कारण और छूट जानेके चिह्न आदि का वर्णन है। निघंटुमें, संपूर्ण औषधियाँ और खाने, पीने, सूंघने, लेपन, स्पर्श आदिकी जितनी सांसारिक वस्तुएँ हैं, उनका गुण, दोष और धर्म्म अर्थात् शीतलता और उष्णता, हलकापन और भारीपन, और यह बात कि एक औषध के दूसरे औषध में मिलने से कैसा गुण उत्पन्न होता है तथा कौन द्रव्य कौनसे दोषको घटाता है और कौनसे दोषको बढ़ाता है इत्यादि का वर्णन है। रोगके दूर करनेके उपायको चिकित्सा कहते हैं वह चाहे केवल एक वस्तुके द्वारा हो अथवा कई वस्तुके मिलनेसे। अश्विनीकुमार और धन्वंतरि ऐसे विद्वान् हुए हैं कि जिन्होंने अपनी विद्या, अनुभव और परीक्षासे वैद्यक शास्त्रके मूलको स्थापित किया है। इनके पीछे चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट आदि ऋषियोंने उनके मूल-सूत्रके आधारपर विस्तार सहित ग्रन्थ बनाए हैं। यही हाल ज्योतिष-विद्याका है। उसमें आकाश-विषयक और पृथ्वी-विषयक दो प्रकारका ज्ञान है। आकाश-विषयक ज्ञान वह है कि जिसमें ग्रहों और नक्षत्रोंका प्रमाण, चाल और ग्रहण होनेके कारण आदि का वर्णन होता है। पृथ्वी-विषयक ज्ञान वह है कि जिससे पृथ्वी, पहाड़, नदी आदिका वृत्तांत विदित

होता है। ज्योतिष में गणित मुख्य है। यह विद्या संपूर्ण विद्याओंकी सहायक और विशेषकर शिल्प-विद्या और युद्ध-विद्याकी मूल-तत्त्व है। ज्योतिष विद्याके आचार्य्य पितामह और सूर्य्य आदि बड़े विद्वान् होगए हैं। परन्तु भास्कराचार्य्यने बहुत स्पष्ट करके वर्णन किया है।

इस प्रसंगमें षट्शास्त्रोंकी भी चर्चा करनी आवश्यक है। प्रथम मीमांसा-शास्त्र है जिसके आचार्य्य जैमिनिमुनि ने वेद-प्रमाणित धर्मका वर्णन किया है। दूसरा वैशेषिक-शास्त्र है जिसके आचार्य्य कणादमुनिने सत्य-ज्ञान-संबन्धी पदार्थोंका वर्णन किया है। तीसरा तर्कशास्त्र है जिसके आचार्य्य गौतममुनिने षोड़श पदार्थ आदि विषयों का वर्णन किया है, जिसके पढ़नेसे मिथ्या ज्ञानका नाश और यथार्थ ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है। चौथा योगशास्त्र है जिसके आचार्य्य पातंजलिमुनिने चित्त-वृत्तिके रोकने और योग-साधनका विषय लिखा है। पाँचवाँ सांख्य-शास्त्र है जिसके आचार्य्य कपिलमुनि ने प्रकृति-पुरुष आदि पच्चीस तत्त्वोंके विवेकके द्वारा, तत्त्वज्ञानका आशय प्रकट किया है। छठा वेदांतशास्त्र है जिसके आचार्य्य वेद-व्यासमुनि ने जीव और ब्रह्मकी ऐकयता, शुद्ध चैतन्यता, अज्ञान-दुःखके निवारण और ज्ञानानन्दकी प्राप्तिके लिए बहुत कुछ वर्णन किया है।

इन शास्त्रोंमें प्रवृत्ति हो अथवा न हो परंतु मनुष्यको पाँच प्रकारका ज्ञान अवश्य होना चाहिए। प्रथम मन आदि अंतसके तत्त्वोंका जानना, दूसरे नीति-विद्या जिससे उचित वस्तुका ज्ञान होता है, तीसरे व्याकरण जो शब्द-

साधन-विद्या है, चौथे न्याय-शास्त्र जिसमें अनुमान आदिका विचार है, और पाँचवें इतिहास जिसमें पुराने समयों और मनुष्योंका वर्णन होता है। जिस प्रकार अँधेरी कोठरीमें भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ रक्खी रहती हैं परंतु विना दीपक दिखाई नहीं देतीं ऐसे ही ईश्वरकी भाँति-भाँतिकी रचना, जो संसार-रूपी कोठरी में बन्द है, विना विद्या-रूपी दीपक के भासित नहीं होती। जबतक मनुष्यको यथार्थ ज्ञान नहीं होता तबतक जन्मकी सफलता नहीं होती और यथार्थ ज्ञान न होनेसे अज्ञानी रहना भला है। बहुत थोड़ा ज्ञान होना भी अच्छा नहीं। क्योंकि जो सर्वथा अज्ञानी होते हैं, उनसे यदि कुछ हितकी बात कही जाय तो मान लेते हैं। जो विशेष ज्ञानी हैं वे भी हितकी बातको आदरपूर्वक अंगीकार करलेते हैं। परंतु जिनको थोड़ा ही ज्ञान होता है, उनके निकट कैसाही श्रेष्ठ वक्ता और उपदेशक हो, वह उसकी बात को नहीं मानते और अपने हठको नहीं छोड़ते। जैसा कि कहा भी है—

कुण्डलिया।

चाहै मणिको मगर के, मुँह से लेइ निकार;
युगल हाथसे पैर कर, लहै उदधिको पार।
लहै उदधिको पार, सर्प कोपित सिर राखै;
मूरख हृदय न चेत, करे, उपदेसन लाखै॥ १
सिकता पेरे तेल बरु, शशके होय विषान;
प्यास बुझै मृग-नीरसे, मूरख हृदय न ज्ञान।
मूरख हृदय न ज्ञान, चहै उपदेसै कितनो;
घटै-बढ़ै नहिं कछुक, रहै उतने को उतनो॥ २

कमल-नालके तागसे, जगको बाँधौ धाय ;
सिरस फूलको पाइकै, हीरा बेध न जाय।
हीरा बेध न जाय, करो कितनी चतुराई ;
खल उपदेसे ज्ञान, तजत नाहीं निठुराई ॥ ३

मैंने संपूर्ण भयकारी वस्तुओंका उपाय देखा है अर्थात् अग्निका वारण जल से और धूप-वर्षाका वारण छतरीसे होता है; अंकुशके बलसे हाथी, दण्डसे पशु और औषध-से रोग भी शान्त हो जाता है, यह सब उपाय शास्त्र-में लिखा भी है परंतु मूर्खका उपाय कहीं नहीं देखा।

दोहा।

पुच्छ-सींग-बिनु पसु वही, जो नर विद्या-हीन।
तृण न चरै पसु भागसे, यह विधि चरित प्रबीन॥ १
जाके विद्या, दान, तप, धर्म, सील, नहिं ज्ञान।
सो नर धरती-भार है, घूमत मृगा समान॥ २
वनचर पसुको साथ भल, वन, पहाड़ में जाय।
नहिं मूरखके संग सुख, स्वर्ग-सदस गृह पाय॥ ३

सवैया।

शब्द सुधामृतसे परिपूरण, शास्त्र मनोहर वाक्य पढ़ावैं।
ज्ञान विचार करैं निसि-वासर, जो वह निर्धन है दुख पावैं॥
सो जड़ता नृप की कहिए जेहि, राज बसे न गुनी गुन गावैं।
खोट नहीं मणिकी जो नहीं, मणि की परखे सोइ मूढ़ कहावैं॥
विद्या समान नहीं जगमें धन, दूसर राज धनादि बखाना।
दान दिए अधिकाय सदा, जगतीतल बीच विचित्र खजाना॥
चोर हरै न घटै न हटै कछु, काम परै तो करै बलनाना।
को कवि पार लहे उपमा जो करै सब भाँति सदा कल्याना॥

दोहा।

नहिं धनके रोके रुकें, जो बुध शास्त्र-निधान।
कमलनालके तागतें, बँधै न गज बलवान॥ १
कमलनके बन बीच जो, हंसनको सुख होय।
कोपि दैव चह लेइ हरि, तौ नहिं संसय कोय॥ २
नीर-क्षीर बिलगावनी, कीरति विमल प्रधान।
ताको कोउ नहिं हरि सकै, यह निश्चय करि जान॥ ३
तिमि बुधको सनमान करि, चह धन देइ न देइ।
विद्या-जनित-प्रमोद-सुख, नहिं कोऊ हरि लेइ॥ ४

सवैया।

सोभा न देइ बिजायठ बाहु में, हारहु चन्द्र समान सजाए।
फूलकी माला बनाइ लसै, तन धोयकै चन्दनस्वच्छ लगाए॥
पानहु खाय, सुवस्त्र धरै, भल सूँधै सुगन्धहु, बार बढ़ाए।
वाग विभूषण हीन न सोहत, सारे अलंकृत जात नसाए॥

छप्पय।

विद्या, नरको रूप, भूप आदर सरसावै।
विद्या, धन अति गुप्त, आपको आप रखावै॥
विद्या, गुरू महान, भोग सुख करत परमहित।
विद्या, देस-विदेस, बीच में होत मातु पित॥
विद्या इष्ट समान है, सदा देह-रक्षा करत।
विद्या-रत्न-विहीन नर, धरती में पसु सम चरत॥

सवैया।

जाके छमा तेहि ढाल न चाहिए, क्रोध रहै तो न शत्रुको कामा।
जाके कुजाति समीप बसै, नहिं आगको काम सांई दुख धामा॥
औषध काज नहीं जो सुमित्रहु, दुर्जन होइ सो सर्पके ठामा।
सील भए तो न भूषण कारज, राजहु कैसो सुविद्याभिरामा॥

वागीश शर्माने अपने पुत्रसे फिर कहा कि विद्याकी महिमा ऐसी नहीं है कि कोई उसका यथार्थ वर्णन कर सके। विद्वानोंके ऐश्वर्यकी प्रशंसाका पार पाना भी बहुत कठिन है। जितने विद्वान् हो गए हैं, वे कहींके राजा न थे। विद्याके ही प्रभावसे उनकी कीर्ति नित्य नवीन रहती है। शिल्प-शास्त्र के प्रवर्त्तक विश्वकर्मा और मय नाम दैत्य तथा वैद्यक-शास्त्रके आचार्य्य अश्विनीकुमार, जिनका नाम लेकर आज कल इस देशके वैद्य लोग रोगी-को औषध खिलाते हैं न मालूम कब हुए थे, लेकिन उनका नाम आज भी अमर है।

नीति-विद्या और राज-प्रबन्ध-शास्त्रमें बृहस्पति और शुक्र सबसे बढ़कर विद्वान् हो गए हैं। बृहस्पतिने अपने यज-मान देवताओंको निज विद्या-बलसे अनेक बार आपत्तियों से उबारा और शुक्रने अपने यजमान दैत्योंको अपनी विद्याके प्रभावसे कितनी बार युद्धमें विजय दिलाकर राज्यासन पर बैठाया। ऐसे ही बहुतसे विद्वान् हुए हैं कि जिन्होंने विद्याके बलसे पृथ्वीमें दिग्विजय किया है। परशुरामने युद्ध-विद्या-बलसे इक्कीस बार क्षत्रियोंको क्षत्र-हीन कर दिया था। विद्या ऐसी वस्तु है कि यदि मनुष्यके पास, जैसी चाहिए वैसी हो तो वह मनुष्य अकेला सारे जगत्का प्रबन्ध कर सकता है।

द्रोणाचार्य्य धनुर्वेद अर्थात् युद्ध-विद्यामें ऐसे विद्वान् थे कि उन्होंने विद्या-बलसे राजा द्रुपदका आधा राज छीनकर जीवनपर्य्यंत भोग किया था जिसकी कथा इस प्रकार है।

उपाख्यान।

जिस समय द्रोणाचार्य्य अपने पिताके पास विद्या पढ़ते थे उसी समय राजा द्रुपद भी उन्हींके पास पढ़ते थे। राजा द्रुपद द्रोणाचार्य्यको भाईकी तरह मानते और यह कहते थे कि जब हम राज्यासनपर बैठेंगे तो तुम्हारी बड़ी सेवा करेंगे तथा आधा राज्य देंगे। विद्याध्ययन समाप्त होनेपर राजा द्रुपद राज-सिंहासनपर बैठे और द्रोणाचार्य्य भी अपनी कुटी बनान्तर में बनाकर रहने लगे। वहाँ कंद-मूल-फलको छोड़ और वस्तुएँ बहुत कम खानेको मिलती थीं।

द्रोणाचार्य्यके पिता तो बड़े तपस्वी थे। वे कंद-मूल-खाकर विद्या पढ़ाते और ईश्वरका भजन करते थे। जब उनका देहांत होगया तब द्रोणाचार्य राजा द्रुपदके पास इस विचारसे गए कि वह आदर करेगा और राज्य-भाग देगा। परन्तु जब द्रोणाचार्यने राजा द्रुपदके निकट जाकर कहा कि मैं तुम्हारा मित्र हूँ। तो राजाने कहा कि भिक्षुक और राजाकी मित्रता किस प्रकार हो सकती है ? द्रोणाचार्य्यने कहा कि तब तो तुमने मुझे आधे राजका अधिकार देने को कहा था और अब ऐसी बातें करते हो। अच्छा, यदि मैं सच्चा भिक्षुक हूँगा, तो आधा राज्य अवश्य ले लूँगा। इतना कहकर द्रोणाचार्य्य हस्तिनापुरको चले गए। वहाँ राजा पाण्डु और धृतराष्ट्रके पुत्रों को सम्पूर्ण युद्ध-विद्या पढ़ा कर कुशल किया। सब लड़के धनुर्वेद में अद्वैत हो गए जिनमें से अर्ज्जुन, भीम, करण आदि की कीर्ति अब भी प्रसिद्ध है।

एक दिन द्रोणाचार्य्यने अपने विद्यार्थियोंको आज्ञा दी कि राजा द्रुपदको पकड़ लाओ। यह सुनकर उन लोगों ने सेना लेकर राजा द्रुपदकी राजधानी पर चढ़ाई कर दी। राजा द्रुपद और द्रोणाचार्य्यके विद्यार्थियोंसे बड़ा समर हुआ। अन्तमें भीमसेनने राजा को पकड़कर गुरु को सौंप दिया। तब द्रोणाचार्य्यने आधे राज्यका वचन-पत्र लिखवाकर छोड़ दिया और उस राज पर अपना अधिकार रक्खा।

विद्यानिधिने कहा कि यह बात सुनकर मुझे बड़ा खेद हुआ कि राजा द्रुपदने द्रोणाचार्य्यका, जिसके पितासे सम्पूर्ण विद्या पढ़ी और उसे अपना मित्र तथा भाई बनाया, ऐसा अनादर क्यों किया? वागीशशर्म्माने कहा कि प्रभुता और राज-पद पाकर चित्तकी वृत्ति चंचल हो जाती है और विद्या-पद पाकर स्थिर होती है।

विद्यानिधि ने कहा कि अब किसी और विद्वान् का चरित्र सुनाइए। वागीशशर्म्माने कहा कि विद्वानोंकी महिमा अपार है। किसकी सामर्थ्य है कि ब्योरे-समेत उनका माहात्म्य वर्णन कर सके। विद्वान् लोग अपनी विद्याके अनुभव-सामर्थ्यसे असाध्य कार्य्यको उपायसे सिद्ध कर देते हैं। इस विषयमें एक अद्भुत उपाख्यान ऐसा है—

उपाख्यान।

मगध देशमें विजयकेतु नामक एक परम धार्मिक और विद्या-रसिक राजा था। उसके पुत्रका नाम वंशभूषण था। उसका चित्त विद्या पढ़नेमें नहीं लगता था। राजा ने उसके पढ़ानेका बहुत उपाय किया, परन्तु कुछ लाभ

न हुआ। जब वह राज-पुत्र कुछ बड़ा हुआ तो जो भी विद्वान् उसे विद्या पढ़ाने तथा शिक्षा देनेके लिए जाता उसे वह बाणसे मार देता। इस प्रकार कितने मनुष्यों-को उसने घायल किया। राजाको भी इस बातकी बड़ी चिंता हुई कि यह विद्या-हीन रह जायगा।

एक समय राजा अयोध्या गए। वहाँके अपूर्व विद्वान् पंडित प्राज्ञमणि त्रिपाठीसे अपने पुत्रकी सब व्यवस्था कही। प्राज्ञमणिने कहा कि मैं राजपुत्रको विद्या पढ़ाऊँगा, परन्तु मेरा भेद किसीसे न कहिएगा। यह बात निश्चित करके प्राज्ञमणि राजा विजयकेतुकी राजधानी में गए और देखा कि राजपुत्रकी रुचि गोली खेलनेमें विशेष थी। वे भी उसके साथ गोली खेलने लगे। जब कुछ दिनमें उससे चित्त मिल गया तो राजपुत्रसे कहा कि सब गोलियाँ एकसी होती हैं, यह अच्छी बात नहीं। गोलियाँ पृथक् २ प्रकारकी हों और उनके नाम भी अलग-अलग होने चाहिएँ उनमें ऐसे चिह्न हों जिनसे सब पहचानी जासकें और कई गोलियोंका एक वर्ग होना चाहिये। इस बात-को राजपुत्रने अंगीकार कर लिया। तब प्राज्ञमणिने बहुत-सी गोलियाँ बनवाकर उनपर रंग से एक २ अक्षर बनवा दिया और पाँच-पाँच गोलियोंका वर्ग ठहराया। एक-एक वर्गकी गोलियोंको एक थैली में रक्खा, जैसे क, ख, ग, घ और ङ इन पाँच अक्षरोंकी पाँच गोलियोंको एक वर्गमें रक्खा। ऐसे ही चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और अवर्गकी गोलियाँ भी बनवाई तथा खेलने-के विधानमें भी कुछ अधिकता की। जिस गोलीपर जो अक्षर बनवाया था उस गोलीका वही नाम हुआ—जैसे

एक गोलीका नाम 'क' और दूसरीका 'ख' इसी प्रकार उस विद्वान्ने मात्रासहित और मिलेहुए अक्षरोंकी गोलियाँ भी बनवाईं। कुछ दिनोंके पीछे खेलते-खेलते उन गोलियोंके सम्पूर्ण अक्षर लड़कोंकी दृष्टिपर चढ़ गए। परन्तु वे अक्षरोंको गोलियोंका नाम समझते थे।

एक दिन प्राज्ञमणिने एक श्लोक लिखकर उसी खेलके स्थानमें फेंक दिया उसको किसी लड़केने पाया। उसने राजपुत्रको दिया और कहा कि इस पत्रमें बत्तीस गोलियों के-से चिह्न बने हैं। राजपुत्र भी उस पत्रको देखकर अचम्भित हुआ और प्राज्ञमणिसे पूछने लगा कि यह क्या बात है? इसमें बहुतसे गोलियोंके चिह्न बने हैं। प्राज्ञमणिने कहा कि इन्हीं गोलियोंके चिह्नोंको पत्रपर लिख देनेसे ऐसी बातें बन जाती हैं जैसी इस पत्रमें हैं। तुम उसे पढ़ो तो मैं इसकी युक्ति बतलाऊँ। यह बात सुनकर राजपुत्रने गोलियोंका स्वरूप समझ लिया और अक्षरोंका उच्चारण करने लगा। उसमें यह श्लोक लिखा था—

श्लोक।

रूपयौवनसम्पन्ना, विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः॥

जब श्लोकका स्वरूप ज्ञान पड़ा तो राजपुत्रने कहा कि इसका मतलब मेरी समझमें नहीं आता मुझे समझाइए। प्राज्ञमणि ने कहा कि इसका अर्थ यह है कि सुन्दर रूप, सुन्दर अवस्था और सुन्दर कुलवाला मनुष्य विद्या-हीन होनेसे वैसे ही शोभित नहीं होता जैसे विना सुगन्ध ढाक का फूल। यह सुनकर राजपुत्रको बड़ी ग्लानि हुई और कहने लगा कि हा! मैंने विद्या नहीं पढ़ी। तब प्राज्ञमणिने भेद

की सब बातें कहदीं और कहा कि मैंने केवल तुम्हारे पढ़ाने के लिए ही गोलियोंके द्वारा अक्षर सिखाया है। अब तुम शीघ्र ही पुस्तकको पढ़ सकते हो। यह बात सुनकर राज-पुत्र उस विद्वान्के चरणोंपर गिरकर धन्यवाद देने लगा और कहा कि आप हमारे परम उपकारी गुरु हैं। मैं आप-से उऋण नहीं हूँ, क्योंकि आपने ऐसा उपाय किया कि मेरा खेल भी नहीं रुका, विद्या पढ़नेके योग्य भी बना दिया और अनायास ही सम्पूर्ण अक्षरोंका बोध करा दिया। अब कोई ऐसा उपाय कीजिए कि शास्त्रोंमें भी मेरी प्रवृत्ति हो।

वाग्मीशर्म्माने कहा कि उसी दिनसे विद्वान् प्राज्ञमणि राजपुत्र-समेत सम्पूर्ण लड़कोंको, जो गोलियाँ खेलते थे, शास्त्र पढ़ाने लगा और राजपुत्र थोड़े ही कालमें पढ़-लिखकर विद्वान् और राज-काज करनेके योग्य होगया। फिर उसी राजपुत्रने अनेक पाठशालाएँ स्थापित करा दीं और देश-देशांतरके विद्वानोंको बुलाकर अध्यापक नियत करदिया। दिन प्रतिदिन उसके राजमें विद्याका प्रकाश बढ़ता गया। जिसके पास यथार्थ विद्या होती है वह प्राज्ञमणिकी तरह ऐसे ही असाध्य कार्यको सिद्ध करसकता है। तथा किसी बातके साधनका सोच नहीं होता।

द्वितीय तरङ्ग ।

सभाकी रीति-भाँति ।

वागीशशर्म्माने अपने पुत्रसे सभाकी रीति-भाँतिके विषयमें कहा कि जिस राज-सभामें जाओ वहाँकी रीति-भाँति समझकर काम करो। वहाँके मनुष्योंके विश्वासपर काम न करना चाहिए। जब कुछ करना हो, तो स्वयम् अपनी बुद्धिसे विचार करना चाहिए। यदि कदाचित् सभाके प्राचीन मनुष्योंसे सम्मति भी लेना पड़े तो उनकी सम्मति पर खुद भी विचारांश करो, कि उन्होंने जो सम्मति दी है, ठीक है, या नहीं और यदि अपनी बुद्धि-विचारसे भी उनकी सम्मति ठीक जान पड़े तो उनकी शिक्षानुसार काम करो। यदि उसमें किसी प्रकारकी क्षति समझो तो सभासदोंकी बातको हितकारी न जानो। क्योंकि सभासद बहुधा दुष्ट प्रकृतिके और दुराचारी होते हैं। वे यह नहीं चाहते कि अन्य किसी गुणीकी गुणज्ञता प्रगट हो, बरन् उसकी बात बिगाड़नेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं। जो कोई सीधा-सादा मनुष्य हुआ तो उसको किसी उपायसे उल्लू बनाकर निकाल देते हैं और प्रबल बुद्धिमान् हुआ तो हाथ मलके रह जाते हैं।

एकबार एक कवि, जो साहित्यमें अद्वैत था, परन्तु राज-सभा के व्यवहारोंको नहीं जानता था, किसी राजाकी सभामें गया। उस कविने वहाँके सभा-कविसे कहा कि आप राजाकी प्रकृतिसे अच्छी तरह परिचित हैं। कहिए,

कौनसे-रसके वर्णनसे महाराज प्रसन्न होते हैं जिससे उसीके आशयका काव्य महाराजको सुनाऊँ। उस सभा-कविने ईर्षा-द्वेषसे उस कविको धोखा देकर कहा कि हमारे पृथ्वीनाथ बीभत्सरसके वर्णनसे बहुत आनन्दित होते हैं। कविने फिर पूछा कि मैं इस आशयकी कविता किस समय सुनाऊँ? सभा-कवि ने कहा कि जब महाराज भोजनसे निश्चिन्त होकर बैठें, उस समय आप अपनी कविताको सुनाइए। उस कविको इतना ज्ञान न हुआ कि बीभत्सरसका वर्णन ग्लानिकारक और मलिन होता है जिसमें भाँति-भाँतिकी घृणित वस्तुओंके रूप, रस तथा दुर्गंधिका वर्णन होता है। विशेष कर भोजनके पीछे, जिस समय सुगंध तथा मनोहर वस्तुओंका सेवन और मनोरंजन तथा हर्षकारी वार्त्ताओंका सुनना हितकर होता है; उस समय मलिन वस्तुओंके आशयसे राजा क्योंकर प्रसन्न होगा।

दूसरे दिन केवल सभाकविकी बातपर विश्वास कर बीभत्सरसके आशयमें काव्य-रचना की। जब राजा भोजनसे निश्चिन्त हुआ, वह अपना काव्य सुनाने लगा। उसमें ऐसी अनिष्ट और ग्लानिकारक मलिनताका वर्णन था कि जिसके सुनते ही राजाको ऊपर हो गया और जो कुछ भोजन किया था, सब गिर पड़ा। लोगोंने कविको वहाँसे हटा दिया। जब राजाको चेत हुआ, तब उसने कवि-को बुलाकर कहा कि तुम्हारी विद्या बहुत अच्छी है परन्तु तुममें बुद्धि और चतुराई कुछ नहीं है और न तुमने कभी कोई राज-सभा देखी है। बताओ यह बीभत्सरसका वर्णन तुमने अपनी इच्छासे कियाहै या किसीकी सम्मतिसे?

कविने कहा कि पृथ्वीनाथ, वास्तवमें मुझसे बड़ी अज्ञानता हुई। मैं श्रीमहाराजकी रुचिको न जानता था। इस लिए सभा-कविसे पूछा। उन्होंने ऐसीही सम्मति दी। मुझसे यही विशेष मूर्खता हुई कि मैंने उसके गुण दोषको स्वयम् नहीं सोचा। अब मेरा अपराध क्षमा किया जाय और जिस आशयके लिये आज्ञा हो, वही आशय सुनाऊँ। अब ऐसी भूल जन्म भर न होने पाएगी। निदान, फिर उसने राजाको मनोभिलषित आशयकी कविता सुनाकर प्रसन्न किया और पारितोषिक पाया। राजाने सभा-कविको वाक्य-ताड़ना करके समझा दिया कि कभी किसी विद्वान्को धोखा दोगे तो कठिन दण्डके भागी होगे।

यह बात सुनकर विद्यानिधिने अपने पितासे कहा कि जब राजसभामें ऐसे-ऐसे दुराचारी रहते हैं तो विदेशी विद्वानका क्योंकर निर्वाह हो सकता है? वागीशशर्म्मा ने कहा कि राज-सभाकी यह व्यवस्था समुद्रके सदृश है। समुद्र में सम्पूर्ण रत्न होते हैं उनके साथ ही सकल जलचर जंतुभी रहते हैं। जो बुद्धिमान् और उद्योगी होते हैं, वे अपनेको दुष्ट जन्तुओंसे बचाकर रत्न निकाल लेते हैं। इसीप्रकार जो विद्या-बुद्धि-निधान और देश-कालके अनुसार चतुर होता है वह सभासद्-रूपी ग्राहोंसे बचकर राज-सन्मान-रूपी रत्नको प्राप्त करता है।

उज्जैन नगरीमें राजा भोज ऐसा विद्या-रसिक, गुणज्ञ और दानशील था कि विद्या-वृद्धिके प्रयोजनसे उसने यह नियम प्रचलित कर रक्खा था कि जो कोई नवीन आशयका श्लोक बनाकर लायेगा तो उसको एक लाख रुपए दक्षिणा में दिए जाएँगे। इस बातको सुनकर देश-देशान्तर

के पण्डित लोग नए आशयके श्लोक बनाकर लाते थे। परन्तु उसकी सभामें चार ऐसे पण्डित थे कि एकको एकबार, दूसरेको दो बार, तीसरेको तीनबार और चौथे को चारबार सुननेसे नया श्लोक कंठस्थ होजाता था। इस कारण जब कोई अन्य पण्डित राजाकी सभामें नवीन आशयका श्लोक बनाकर लाता और जब वह राजा के सम्मुख पढ़कर सुनाता था तो उस समय राजा उनसे पूछता कि यह श्लोक नया है या पुराना। वह पण्डित जिसको कि एकबारके सुननेसे कंठस्थ होनेका अभ्यास था, कहता कि यह पुराने आशयका श्लोक है और आप भी पढ़कर सुना देता। इसके अनन्तर दूसरा पण्डित, जिसको दो बारके सुननेसे कंठ होजाता था, पढ़के सुनाता और इसीप्रकार वे चारों क्रमसे वह श्लोक राजाको कंठाग्र सुना देते। इस कारण विद्वान् अपने-अपने प्रयोजन से रहित हो जाते थे।

इस बातकी चर्चा देश-देशान्तरमें फैल गई। लेकिन एक विद्वान् ऐसा चतुर और बुद्धिमान् था कि उसके बनाए हुए आशयको इन चारोंको भी अंगीकार करना पड़ा कि वह नवीन आशय है। श्लोक यह है—

श्लोक।

राजन्श्रीभोजराज त्रिभुवनविजयी धार्मिकस्ते पिताऽभूत्;
पित्रा ते वै गृहीता नवनवतिमिता रत्नकोटिर्मदीया।
तां त्वं देहि त्वदीयैस्सकलबुधवरैर्ज्ञायते वृत्तमेतत्;
नो चेज्जानंति ते वै नवकृतमथवा देहि लक्षं ततो मे॥

अर्थात् हे तीनों लोकके जीतनेवाले राजा भोज, तुम्हारे पिता बड़े धर्मिष्ठ थे। उन्होंने मुझसे निन्नानवे करोड़ रत्न

लिया था। इसलिये मुझे आप दीजिए। इस वृत्तान्तको तुम्हारे सभासद् विद्वान् जानते होंगे, उनसे पूछ लीजिए और यदि वे यह कहें कि आशय केवल नवीन कवितामात्र है तो अपने प्रणके अनुसार एक लाख रुपयही मुझे दीजिए। इस आशयको सुनकर उन चारों विद्वानोंने विचारांश किया कि जो इसको पुराना आशय ठहराएँ तो महाराजको निन्नानवे करोड़ देना पड़ता है और नवीन कहनेमें केवल एक लाख देना पड़ेगा। इससे उन चारोंने क्रमसे यही कहा कि पृथ्वी नाथ! यह नवीन आशयका श्लोक है। इस पर राजाने उस विद्वान्को एक लाख रुपए दिए।

वागीशशर्म्मा ने कहा कि देखो, उस विद्वान्ने कैसी युक्तिसे अपना काम निकाला। ऐसे ही देश-कालमें जो मनुष्य चतुर और अनुभवी होते हैं, वे ही राज-सभा-रूपी सागरसे राज-सन्मान-रूपी रत्नको प्राप्त करते हैं। विद्यानिधि ने राज-सभा-सम्बन्धी और भी वृत्तान्त सुनानेके लिए कहा। वागीशशर्म्माने कहा कि राज-सभामें रहकर किसी पदार्थ की अभिलाषा प्रकट न करना चाहिए और ऐसे स्थानमें बैठना उचित है जहाँसे उठाए जानेका सन्देह न हो। विना पूछे बात कहना या व्यर्थ बकना अनुचित है। राज-स्थानमें जो मनुष्य भेदी हों उनकी स्त्री या उनके शत्रु से प्रीति करना उचित नहीं। प्रत्येक अवसर और प्रत्येक स्थानमें मर्य्यादा-सहित रहना चाहिए। क्योंकि मर्य्यादा छोड़ने पर राजा लोग किसीको नहीं चाहते। यहाँतक कि पुत्र, पौत्र और भाई को भी कठिन दण्ड देते हैं। इसलिए जो स्वामी आज्ञा दे, उसीके अनुसार कार्य करना चाहिए। दूसरेके अधिकार

में हाथ डालना उचित नहीं। जिसकी राज-द्वारमें स्थिति हो और जिसपर राजाकी कृपा रहती हो, उसे चाहिए कि जितने राज्याधिकारी हों, सबसे मिलके चले और इस प्रकार रहे कि, जिससे किसी अधिकारीका अपमान न सूचित हो। राजाके निकट ऐसी भी बात न कहे कि जो किसीके दुःख अथवा अर्थ-हानिका कारण हो। राजाकी सेवा तो सर्वथा करनी चाहिए परंतु राजाके काम-काजियों और सेवकोंको भी प्रसन्न रखना उत्तम और आवश्यक है। क्योंकि जिससे भृत्यगण अप्रसन्न होते हैं उससे समय पाकर बदला लेते हैं। जैसा कि कहा गया है—

दोहा।

जो नृप को नित सेवई, करै चक्र अपमान।
सो विभूति सम सोचई, करि पीछे अनुमान॥

पुत्रने कहा कि इस दोहेका भाव मेरी समझमें अच्छी तरहसे नहीं आया। इसका अर्थ स्पष्ट रूपसे कहिए। पिताने कहा कि सुनो, इस दोहेका भाव वही है, जो ऊपर कहचुके हैं—अर्थात् जो केवल राजाकी सेवा करता है और राज-परिवर्त्तियोंकी सेवा नहीं करता, वह पीछे दुःख पाकर पश्चात्ताप करता है।

श्लोक।

चक्रं सेव्यं नृपः सेव्यो, न सेव्यः केवलो नृपः।
यच्चक्रस्यापमानेन, विभूतिर्भूततां गतः॥

राजाकी सेवा करना चाहिए और चक्र अर्थात् राजाके निकटवर्ती कार्यकर्त्ताओंकी भी सेवा करना चाहिए; क्योंकि इनके अपमानके कारण विभूति भूत बन जाती है।

विद्यानिधिने कहा कि जहाँका राजा निर्बुद्धि हो, विद्या-गुणकी चाह न करता हो, मूर्खोंकी अधिकता हो और वहाँ यदि संयोगसे कदाचित् विद्वान् पहुँचे तो क्या उपाय करना चाहिए ? वागीशशर्म्माने कहा कि पहिले तो ऐसे स्थानमें जाना न चाहिए कि जहाँ मूर्खों का आदर-सम्मान हो। यदि कदाचित् दैव-संयोग से जाना ही पड़े और वहाँ वैसी बात पाई जाय, तो उस समय यह विचार करना चाहिए कि यह राजा प्रकृतिसे मूर्ख और असज्जन है या सङ्गदोषके कारण असज्जन-प्रिय होगया है। यदि ऐसा निश्चित होजाय कि उसके निकटवर्त्ती सज्जन, शुभाचारी, साधारण मनुष्य और मूर्ख जितने हैं, उनका गुण-दोषका प्रभाव राजा पर नहीं पड़ता, तो वह स्व-भावका मूर्ख और असज्जन है। तब तो उस राजाकी सेवा में इस भरोसेसे न रहना चाहिए, कि इसको अभ्याससे सज्जनता प्राप्त हो जायगी, क्योंकि सुजनता अभ्यास से नहीं मिलती। जैसे कि रामायणमें लिखा है—

सोरठा।

फूलै फलै न बेत, यदपि सुधा बरसैं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलैं विरंचि सम॥

यदि यह निश्चित होजाय, कि राजा स्वभावका असज्जन नहीं है, केवल कुसंगके कारण असज्जन हो रहा है, तो उस स्थानमें विद्वान्को अवश्य ठहरना चाहिए। परंतु धीरे-धीरे इस बातका भेद लेता और देखता रहे कि किस आशय या किस विषयकी ओर राजाकी विशेष रुचि है। चाहे वह विषय उत्तम हो या अनिष्ट, परंतु ऊपर दिखानेके लिए उस विषयमें कुछ अपना अनुराग और

रुचि बढ़ावे जिससे राजाको यह बात जान पड़े कि यह भी इस बातका अनुरागी है। क्योंकि जो जिस विषय का अनुरागी रहता है वह यही चाहता है कि यही रुचि सम्पूर्ण संसारको हो जाय। यदि राजाका चित्त अपनी ओर झुका देखे, तो उस विषयको इतना बढ़ाए, जिससे राजाके साथ विशेष प्रीति हो जाय। जिस समय राजा का और अपना चित्त मिल जाय तो अवसर पाकर उचित उपदेश करे। धीरे-धीरे उसे उत्तम मत पर लावे और उसकी प्रकृतिको असत्कर्मसे हटाकर सत्कर्ममें लगावे। इस प्रकार उद्योग करनेसे राजा वैसे ही सज्जन हो जाता है जैसे सन्मित्रशर्म्माने अपनी बुद्धिमानीसे राजा सुमतिको असत्कर्मसे हटाकर सुकर्ममें लगा दिया था।

विद्यानिधिने पूछा कि यह कथा कैसी है, मैं सुनना चाहता हूँ। वागीशशर्म्माने कहा कि एक विद्योपजीवी सन्मित्रशर्म्मा नामी विद्वान् चैतन्य नगरके राजा सुमतिको गुण-ग्राहक सुनकर उसकी सभामें गया और अवसर देखने लगा कि मैं किस समय अपने विद्यागुण का प्रकाश करूँ। जब कुछ दिन राजाकी सभामें रहा और उसका चाल-चलन देखा तो वहाँ विद्या-गुणकी कुछ चर्चा न थी। केवल हँसी-ठट्ठेका प्रचार था और ऐसेही लोगोंका आदर-सम्मान होता था। वह विद्वान् पुरुष अपनी विद्याके भरोसे पर रहता और सभाके अनुकूल आचरण न करता। इसी कारण उसपर राजाकी कृपा-दृष्टि न होती। वह बहुत दिन तक इस आशासे ठहरा रहा कि किसी दिन विद्या-विलास होगा तो मेरा गुण खुल जायगा। पर वहाँ विद्या-विलासको कौन पूछता था? वहाँ तो भाँड़ों

के स्वाँग-ठट्ठा, नाच-रङ्ग और प्रमोदकी बातें हुआ करती थीं और उसीमें महाराज मग्न रहते थे। जो कोई ठट्ठे में बढ़ जाता था वही उस सभा में मानों विद्वान् और कवि ठहराया जाता था। इस विद्वान्की इतनी भी गुणज्ञता न हुई कि भोजन-वस्त्रका ठिकाना होता। तब वह अपने मनमें सोचने लगा, कि यद्यपि यह सभा हमारे रहनेके योग्य नहीं है और न हम यहाँ रहेंगे, परंतु कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे हमारे ऊपर राजा प्रसन्न हो; क्योंकि प्रसन्नता होने पर दो बातोंकी आशा है। एक यह कि, जब वह प्रसन्न होगा तो मेरा कुछ अर्थ अवश्य निकलेगा दूसरे यह कि, उस समय कदाचित् मेरा उपदेश भी कुछ गुणकारी हो और राजा सुमार्ग पर चल पड़े। परंतु इस समय वह उपाय उचित है जो रुचि के अनुसार हो। जैसा कि, नीति में लिखा है—

दोहा।

जो रीझै जेहि भाँति सो, तैसे ताहि रिझाउ।
पीछे युक्ति विवेकसे, अपने मत पर लाउ॥

यह सोच-विचारकर उस पण्डित ने अपने टहलुएको सिखा दिया कि कलके दिन जो चावल-दाल लावे तो उसपर चार-पाँच मूलियाँ रख लेना। उस समय मैं तुझे दो चार थप्पड़ मार दूँगा और चावल छिड़का दूँगा। जब लोग तुझसे इसका कारण पूछें, तो तू कह देना कि पण्डितजी को मूलीसे चिढ़ है।

निदान दूसरे दिन नौकरने वैसाही किया। जहाँ वह पण्डित दो चार मनुष्यों के साथ बैठा था वह वहीं होकर निकला। तब पण्डित क्रोधमें आकर उठा और उसे

गालियाँ देनेलगा और कहा कि चंडाल, तूने क्या किया। तेरा प्राण नहीं बचेगा। इतना कहकर उसके दो-चार चपेटे मारे, चावल छिटका दिए और इधर-उधर उछलने-कूदने लगा।

यह चरित्र देखकर लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। जब टहलुएने भेद बतलाया तो लोगोंने पण्डितको हाथ-पाँव जोड़कर शांत किया और कहा कि हम आपको दूसरा सेवक लादेंगे। इसके पश्चात् जो लोग वहाँ पर विद्यमान थे, उन्होंने जाकर सब वृत्तान्त राजासे कहा। यह बात सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई कि एक नया कौतुक देखने में आएगा।

जब वह पण्डित सभामें आया उस समय राजाकी आज्ञानुसार लोगोंने वाटिकासे कुछ मूल-फल और बहुत सी मूलियाँ लाके पण्डितके आगे रख दिया और कहा कि यह फल-मूल आपको महाराज देते हैं। पण्डितको तो अवश्य कौतुक करना और प्रयोजन-साधना अभीष्ट था उसने मूलीके देखते ही मानों क्रोधसे अरुण होगया और जो कुछ मूलीके साथ फल-मूल था, उसे चारों ओर फेंक दिया और इधर उधर उछल-उछल कर बुरी-बुरी बातें कहता हुआ अपने कपड़े फाड़कर फेंक दिए और कहने लगा कि सब लोग मेरे प्राण के भूखे हैं। देखो मेरे निकट विषका मूल रख दिया है। इस चरित्रको देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि हम उसको बड़ा दण्ड देंगे जिसने आपके सम्मुख अनिष्ट वस्तु रखादिया है। इसप्रकार समझा-बुझाकर उत्तम-उत्तम वस्त्र दिया और बहुत सा रुपया और मुहर मँगाकर पारितोषिकमें दिया। उसी दिनसे

प्रतिदिन चिट्ठा अलग मिलने लगा और वार्षिक वेतन और व्यय अलग नियत होगया। उस पर राजाकी विशेष अनुग्रह रहने लगी और राजाने कहा कि आप हमारे परम मित्र हैं। सन्मित्रशर्म्माने भी उस दिनसे कौतुक और हास्यकारी मनोरंजक वार्त्ताओंसे राजाको ऐसा प्रसन्न किया वह मानों आज्ञाकारी और किंकर बन गया। परंतु मूर्खों और दुराचारियोंकी संमति और विद्यागुणके अनादरके कारण सन्मित्रशर्म्माका जी न लगता था।

निदान कुछ समय बीतनेपर पण्डितके जी में सोच हुआ कि यह बात बहुत अनुचित है कि शास्त्रोंको पढ़-लिखकर ऐसी मूर्ख-सभामें पड़ा रहूँ और अपने विद्या-रत्नको मलीन करूँ। यह सोच विचारकर किसी समय राजाको प्रसन्नचित्त और एकान्तमें पाकर उपदेशके लिए उचित समय समझ, राजासे कहा कि हे महीनाथ, मुझे आज्ञा हो तो मैं अपने देशकी यात्रा करूँ। यह बात सुनकर राजाने कहा कि मित्र, मैं आपको अभी बिदा न करूँगा। आपके रहनेसे हमारा बहुत चित्त प्रसन्न रहता है। जो कुछ वस्तु घर भेजना हो, कहो, भिजवा दी जाय परंतु तुम्हारा जाना नहीं होगा। यह बात सुनकर वह पण्डित बोला कि प्रयोजनमात्र जितना द्रव्य मुझे चाहिए उतना मिल चुका और जिस बातका मैं अभिलाषी हूँ वह आपके स्थानमें नहीं है। जिसमें आपकी रुचि है उसे मैं अच्छा नहीं जानता। क्योंकि इसका परिणाम अच्छा नहीं है। मेरा धर्म है कि आपको उचित शिक्षा दूँ। आपका काम है कि उसको सुनें जैसा कि किसी कवि ने कहा है—

श्लोक ।

स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं;
हिताम्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्व्वते रतिं;
नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥

अर्थात् वह कैसा मित्र है जो अपने प्रभुको अच्छी बात न सिखाए, और वह कैसा प्रभु है जो उचित शिक्षा न सुने। जो मित्र अच्छा सिखाता है उसको सदा सुख रहता है और जो प्रभु हितकी बात सुनता है उसके यहाँ सम्पूर्ण सम्पदा डेरा किए रहती है। आप मुझे मित्र कहते हैं और मैंने अभी तक आपके साथ कोई मित्रताकी बात नहीं की। केवल आपकी रुचिके अनुसार काम करता रहा हूँ, जो आपके लिए हितकर नहीं और मित्रका धर्म नहीं है।

सन्मित्रशर्म्मा ने फिर कहा कि महाराज, आपकी सभाकी यह बड़ी अनुचित व्यवस्था है कि जो बात आपके मुखसे निकलती है, सब सभावाले उसीकी पुष्टता करते हैं। यह नहीं कहते कि इसमें इतनी हानि अथवा इतना गुण है। केवल आपकी रुचि पर ध्यान रखते हैं यह वार्त्ता मंत्रियों और राजा दोनोंके लिये अच्छी नहीं है।

दोहा ।

सचिव, वैद्य, गुरु, तीन जो, प्रिय बोलहिं करित्रास ।
राज, धर्म, तन को तहाँ, होइ वेग ही नास ॥

इसका आशय यह है, कि जहाँ मंत्री राजाको प्रसन्न करनेवाली बात कहते हैं और हित करनेवाली नहीं, वह

राज्य नहीं रहता। जो वैद्य रोगीकी रुचिके अनुसार औषध देता है और पथ्यापथ्य नहीं सोचता, उस रोगी के तनका नाश होजाता है। जहाँ गुरु चेलेकी रुचिकी बात कहता है, धर्मकी बात नहीं सिखाता, वहाँ धर्मका नाश होता है। इससे महाराज, मैं आपके यहाँ देखता हूँ कि रात-दिन यही काम हुआ करते हैं, जो राजाओंके यहाँ न होने चाहिएँ और जिनसे राजाका बिगाड़ होता है। आपके विषयमें मुझे यह संदेह और भी है कि आप राज-धर्म और राज्न-नीतिको जानते नहीं, या जान बूझकर भुला दिया है। क्योंकि आप अनेक प्रकारके अनर्थोंको अर्थ समझकर राजकाजसे विमुख होरहे हैं; और यह नहीं जानते कि हम कौन हैं और हमको क्या करना चाहिए। जैसा नीति में लिखा है—

श्लोक।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः॥

अर्थात् मनुष्यको इस प्रकारकी चिन्ता वारंवार होनी चाहिए कि कौनसा समय है, कौन से मित्र हैं, कैसा देश है, क्या लाभ है, क्या व्यय है, मैं कौन हूँ और मेरी क्या शक्ति है। यह बात तो साधारण मनुष्योंके लिए है और राजाको तो किसी अवस्थामें विचारांशसे रहित रहना ही न चाहिए। क्योंकि उसके आधीन जगत्का प्रबन्ध रहता है। यदि वह आलस्य करेगा, या व्यसनमें पड़कर राज-काजकी सुधि भुला देगा, तो प्रजा किसकी

शरण लेगी। राजाके लिये शास्त्रमें ऐसी आज्ञा है, कि वह किसी समयको व्यर्थ काममें न बिताए। वरन् जहाँ तक होसके थोड़े समयमें बहुत काम निकाले। लेकिन मैं देखता हूँ कि आपके यहाँ सम्पूर्ण समय व्यर्थ बीतता है। इस बातसे मेरा चित्त बहुत दुःखित है।

तृतीय तरङ्ग ।

राज-धर्म ।

बागीशशर्म्माने कहा कि इस प्रकार सन्मित्रशर्म्माके उपदेशको सुनकर राजा सुमतिको बड़ा हर्ष हुआ। उसकी आँखों में जल भर आया और आनन्दकी अधिकतासे बोला न जाता था । निदान धैर्य धारण करके, उसके चरणों पर गिर पड़ा । सन्मित्रशर्म्माने राजाको उठाकर अपने हृदयसे लगालिया और उसे भी रोमांच हो आया ।

राजाने कहा कि आप मेरे परम हितकारी गुरू हैं । मेरी आँखोंमें जो विषय और अज्ञानका अंधकार छाया हुआ था आपने उसे ज्ञानोपदेश रूपी अंजनसे दूर कर दिया । मैंने बाल्यावस्थामें कुछ विद्या पढ़ी थी, परन्तु मुझे ऐसे-ऐसे मूर्खोंकी संगतिमें रहना पड़ा कि मेरा सम्पूर्ण विद्याका व्यसन जाता रहा। मुझे इतनी सुध न रही, कि मैंने क्या पढ़ा था, क्या नहीं ? आज आपके सत्संगसे यह भी स्मरण हो आया कि मैंने भी कुछ पढ़ा था । अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, भविष्यमें जो काम किया जायगा, वह आपकी आज्ञानुकूल किया जायगा। मेरा इस समय यह प्रश्न है, कि मुझे अभी संक्षेप से राज-धर्म्म सुनाइए।

सन्मित्रशर्म्मा ने राजासे कहा कि मैंने भी यही बात समझी थी कि आपमें कोई बुराई नहीं है; केवल संगति

के विकार से दुष्ट व्यसनों में चित्त लग गया है। यह बड़े भाग्य की बात है कि आपका चित्त-रूपी चंद्रमा कुविषय-रूपी बादलों से बाहर निकल आया जिसके कारण आपने राज-धर्म्म सुनने की इच्छा प्रगट की है। यद्यपि यह बहुत विस्तार का है, परन्तु मैं आप से संक्षेप में कहूँगा।

एक समय बहुतसे ऋषियों ने भृगुऋषि से अनेक धार्मिक प्रश्न पूछे थे और भृगुजी ने जो कुछ कहा था, मैं उसीको संक्षेप में वर्णन करता हूँ। जब भृगुऋषि सम्पूर्ण वर्ण-धर्म कह चुके तो फिर ऋषियों से कहा कि अब मैं राज-धर्म सुनाता हूँ। तुम लोग श्रवण करो। ईश्वरने सम्पूर्ण संसार का भय निवारण करने के लिए राजाको उत्पन्न करके उसके शरीरमें सूर्य, अग्नि, पवन आदि देवताओंका अंश भर दिया है। सूर्यकी ओर दृष्टि करनेसे जिस प्रकार मनुष्यकी आँख ढक जाती है, उसी प्रकार कोई पुरुष राजाके सम्मुख तीव्र दृष्टिसे नहीं देख सकता। जो पुरुष अग्निके अति समीप जाता है; वही जल जाता है। राजा-रूपी अग्निका अपकारी धन-सम्पत्ति-समेत जल जाता है। राजा चाहे अवस्थामें छोटा भी हो, परंतु उसको देव-बुद्धिसे बड़ा समझना चाहिए। यथोचित काल, शक्ति और देशको देखकर राजा धर्म-सिद्धिके लिए वारंवार भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है। राजाकी प्रसन्नतामें लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोधमें मृत्यु रहती है। जो मनुष्य ऐसे राजा से द्वेष या वैर करता है वह अवश्य विनाशको प्राप्त होता है। इसलिए जिस बातको राजा प्रचलित किया चाहे, वह इष्ट हो या अनिष्ट, उसका उल्लंघन न करना

चाहिए। ईश्वरने राजाकी सहायता और प्रजाके धर्म-कर्मकी रक्षाके लिए दण्डको बनाया है जिसके भयसे सम्पूर्ण स्थावर-जंगम जीव अपने धर्म से विचलित नहीं होते । इसलिए राजाको चाहिए कि देश-काल-शक्ति और विद्याको देखकर अपकारी और अन्याइयोंको यथोचित दंड दे; क्योंकि राजा सब वर्णाश्रम-धर्मोंका प्रतिभू अर्थात् जामिन है ।

प्रजाकी रक्षा करनेवाला, आज्ञा देनेवाला और अचेतोंको सचेत करनेवाला राजाका दंड है । उसीको पण्डित लोग धर्म कहते हैं। जब विचारके साथ, अच्छे प्रकार न्याय-पूर्वक दंड दिया जाता है तो सम्पूर्ण प्रजाको सुख होता है और वही दंड, जो विना विचारे अन्यायसे दिया जाता है, सम्पूर्ण प्रजाका विनाश कर देता है । यदि राजा दंड देने योग्य पुरुषको दंड न दे, तो बलवान् लोग दुर्बलों को नाश करदें, तथा उत्तम मनुष्यों और अधर्मियोंमें विवेक न रहे। सेवक स्वामीकी आज्ञा न माने और सारे जगत् का व्यवहार उलट-पलट हो जाय ।

दोहा ।

लाल नयन अरु स्याम तन, जहँ बिचरत है दंड ।
तहाँ न मोहित होत नर, अरु न बढ़त पाखंड ॥
धर्म निरत कामार्थविद, सत्य वचन नृप जोइ ।
लखि विचार करि सकतुहै, दंड यथा विधि सोइ ॥
दंड किए नृपको बढ़े, धर्म अर्थ अधिकाय ।
जाके भयसे दबत हैं, लम्पट खल समुदाय ॥

परंतु दंड में इतना तेज है कि मूर्ख और निस्तेज राजा लोग उसको धारण नहीं कर सकते ; क्योंकि जब विधि-

विपरीत दंड दिया जाता है, तो राजाको परिवार समेत नष्ट और निर्मूल कर देता और उसका राजपाट सब बिगड़ जाता है।

सोरठा।

लोभी लम्पट मूढ़, विषयी क्रोधी जो नृपति।
दण्ड-कर्म अतिगूढ़, बिनु सहाय नहिं करि सकै॥
सत्य वचन सुचि काय, विद्या-गुण-सागर-गमन।
बुध-जन सहित सहाय, सो नृप धारत दण्डको॥

चौपाई।

न्याय सहित पालै निज राजा, दंड देइ खल सत्रु समाजा।
विबुध साधु पर दया विसेषा, जहँतक मिलु गुन गहै असेषा।
इहि विधि रहत सदा जाकी मति, तेहि नृप सदा रहत थिर कीरति।
तेल-बिन्दु फैलै जिमि जलमें, न्याय-निरत नृप यस तिमि जगमें।
न्याय-हीन नर पवि यस कैसे, फैलत घृत नहिं जल महँ जैसे।

राजा का नित्य नैमित्तिक कर्म यह है कि प्रातःकाल उठकर अपने पूज्यवर्गोंकी उपासना कर सदैव नम्र-चित्त और विनय-सहित सावधान होकर पूज्यवर्ग विद्वानों का सन्मान करे। क्योंकि बहुतसे राजा लोग राज-सामग्री होने पर भी अविनय और अन्याय के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं और कितने वनवासी राजा विनयसे राज्यको फिर पा गए हैं। राजा वेनु, नहुष, सुदास, सुमुख, निमि आदि कितनेही अविनय और अन्याय करनेसे नष्ट और निर्मूल होगए हैं। मनु, पृथु आदि धार्मिक राजा विनय से राज्य को, कुवेर धन-ऐश्वर्यको और विश्वामित्र उत्तम जातिको प्राप्त होगए हैं। इसलिये राजाको सुन्दर आचार और नियम संयुक्त रहना चाहिए और जो जिस

शास्त्र और जिस विद्याका विद्वान् हो उससे वही शास्त्र और वही विद्या ग्रहण करे । सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने वशमें रक्खे । क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजाको अपने वशमें कर सकता है । कामसे उत्पन्न दस और क्रोधसे उत्पन्न आठ, ये अठारह प्रकारके व्यसन हैं, इनसे राजाको अलग रहना चाहिए । क्योंकि कामिक व्यसनों के सेवनसे राजाका अर्थ और धर्म बिगड़ता है; और क्रोधसे उत्पन्न वस्तुओंमें प्रवृत्त होनेसे राजा स्वयम् नष्ट होजाता है । अति अहेर, जुआ, दिनमें सोना, पराए का दोष कहना, स्त्रियोंके साथ रहना, सुरा आदि के पीने से मतवाला होना और नाचना, गाना, बजाना तथा वृथा घूमना ये दस व्यसन कामसे उत्पन्न होते हैं । विना जाने हुए दोषका कहना, बलसे काम करना, कपटसे वध करना, दूसरेके गुणको न सहना, परके गुणमें दोष निकालना, धनको चुराना, देने योग्य वस्तुको न देना, वाणी से कठोर वचन बोलना और दंडसे ताड़ना करना ये आठ व्यसन क्रोधसे उत्पन्न होते हैं । इन दोनों प्रकारके व्यसनोंका मूल लोभ है । लोभके जीतनेसे ये दोनों व्यसन जीते जा सकते हैं । कामवाले दस व्यसनोंमेंसे चार क्रमसे कष्ट-साध्य हैं अर्थात् मदिरा-पान, जुआ, स्त्री-सेवा तथा अहेर खेलना और क्रोधवालों में तीन अर्थात् दण्डसे मारना, गाली देना और देने योग्य वस्तु को न देना—ये तीन क्रम से बहुत कष्टसाध्य हैं । इन सातोंसे विशेषकर राजाको बचना चाहिए ।

दोहा ।

व्यसन मृत्यु दोउ सदस हैं, तामें व्यसन विसेष ।
व्यसनी भोगत नरक है, व्यसन-हीन सुखसेष ॥

राजाको चाहिए कि जैसा छोटा या बड़ा राज्य हो, उसीके अनुसार कुलीन, विद्वान् और वीर मनुष्योंको चुनकर मंत्री नियत करे। क्योंकि सुगम काम भी अकेले नहीं हो सकता और राज-काज तो सर्वोपरि भारी काम है फिर वह अकेले किस प्रकार सध सकता है। इसलिये मन्त्रियों की सहायता से सम्पूर्ण राज-काज करना चाहिए। सब मन्त्रियों के मतको अलग-अलग या एकही समय समझकर अपने हितकी बात करना चाहिए। जो मंत्री सबमें श्रेष्ठ हो, उससे बड़े काम की सलाह ले और ऐसे-ऐसे मंत्री रक्खे जो पवित्र, ज्ञानी, सुन्दर रीतिसे द्रव्यके प्राप्त करनेवाले, सुन्दर आचरण और परीक्षामें अच्छे निकले हों। जितने मनुष्योंसे अपना संपूर्ण मतलब सिद्ध होसके, उतने मनुष्योंको आलस्य-रहित होकर कार्यमें युक्त करना चाहिए। जो मंत्री कुलीन हों और पवित्र तथा निर्लोभ हों उनको धनोत्पत्तिके स्थानमें रक्खे और जो डरपोक हों उनको घरके भीतर। दूत ऐसे रखने चाहिए जो चेष्टा और आकारके देखने से सब अभिप्राय जान लें साथही पवित्रात्मा और शास्त्रमें कुशल हों।

मंत्रीके आधीन दण्ड, राजाके आधीन कोष और दूत के आधीन बिगाड़-बनाव रहना चाहिए। क्योंकि वह मिलेको बिगाड़ता है और बिगड़ेको मिलाता है। दूतको चाहिए कि दूसरे राजाके मनकी बात समझकर ऐसे-ऐसे यत्न करे, जिससे अपने राजाको पीड़ा न हो। जंगल-अर्थात् जो देश जल, तृण, वायु और अन्नसे सम्पन्न हों, जहाँ धर्म्मात्मा मनुष्य बसते हों; जो फल, फूल, मूल, लता आदि मनोरञ्जक वस्तुओंसे युक्त हों और जिस देशमें वाणिज्य आदि व्यापार सुलभ हो वहाँ मुख्य निवास-स्थान बनाना चाहिए।

परन्तु जहाँ दुर्ग बनाया जाय, वहाँ की भूमि चारों ओर से टेढ़ी हो; उस भूमिको चारों ओरसे जल घेरे हुए हो; चारों ओर युद्धकर्त्ता प्रबल मनुष्य बसते हों और वन तथा पहाड़ हों । प्रयोजन यह कि वहाँ दूसरे राजाकी सेना न आसके । परन्तु जहाँतक बन पड़े, यत्नपूर्वक पहाड़ी भूमिमें ही गढ़ बनाया जाय । क्योंकि सब दुर्गोंसे पहाड़ी दुर्ग दृढ़ होता है और गुणोंमें सबसे विशेष है । जिस प्रकार दृढ़ स्थान में रहने से वन-चर पशु-पक्षी अपने शत्रुओं के भयसे बचे रहते हैं ऐसे ही दृढ़ दुर्गमें रहनेसे राजा शत्रुओंसे पीड़ा नहीं पाता । क्योंकि दुर्ग में थोड़े मनुष्य भी हों तो बाहरके अनेक मनुष्यों के मारने में समर्थ होते हैं । साथ ही यह भी चाहिए कि दुर्ग में कुछ सेना, हथियार, धन-धान्य अर्थात् खाने-पीने की सामग्री और वस्त्र आदि, वाहन, विद्वान्, शिल्पकार, यंत्र, घास और जल सदा विद्यमान रहे । दुर्ग के भीतर प्रत्येक मनुष्य पशु और वस्तु के लिए अलग-अलग घर होने चाहिए, जिनके आस-पास प्रत्येक ऋतुके फूल-फलवाले वृक्ष लगे हों ।

राजाको उस स्त्री के साथ विवाह करना चाहिए जो उत्तम कुल, स्वरूप और स्वभाव आदि लक्षणों में अपने अनुकूल हो । जिस विद्वान् पंडितके योग्य जो काम हो, उसे वह काम सौंपे और भोजन, वस्त्र, धन आदिके द्वारा सभोंका सन्मान करता रहे । अपने कुलकी परम्पराका जो नित्य-नैमित्तिक उचित कर्म हो, उसके करने में आलस्य न करे और अपने राज्यकी प्रजासे यथोचित कर ले । प्रजा-को पुत्रके समान जाने और दान-पुण्य नित्य किया करे ।

यद्यपि राजाओंके लिए बहुत कर्म कल्याणकारी हैं,

परन्तु तीन कर्म बहुतही शुभ हैं । लड़ाई में स्थिर रहना, प्रजाका पालन और विद्वानोंका आदर सन्मान—ये तीनों बातें जिस राजा में होती हैं, उसके राज्यकी दिन-दिन वृद्धि होती है । लड़ाईके समय शत्रुको जीतकर वहाँकी जो-जो वस्तु सेना लूट कर लावे उस में से उत्तम वस्तुएँ राजा स्वयं ले और शेष को उन लोगों में बाँट दे । राजाका यह परम धर्म है कि जो वस्तु न मिली हो उसकी अभिलाषा रक्खे; जो मिली हो उसकी यत्नसे रक्षा करे; जो रक्षित हो उसको बढ़ावे और जो बढ़कर अधिक हो उसे सत्पात्र को दान में दे । हाथी, घोड़ा, सेना आदि संग्रामकी वस्तुओंके सजाने और अस्त्र-शस्त्र-विद्याके अभ्यास से अपने पौरुषको प्रकट करे । विचार और चेष्टा आदिको गुप्त रक्खे । शत्रु की भूल-चूकका भेद लेता रहे । जो दण्ड देनेमें प्रबल होता है, उससे सम्पूर्ण संसार डरताहै । इसलिए राजा दण्ड देनेमें नम्र न हो । स्वयं कपटसे रहित होकर शत्रुके कपट को जाने और यत्नसे अपने पक्षकी रक्षा करता रहे ।

दोहा ।

जाने अरिके भेदको, अपनो लखै न कोइ ।
कछुआ सम निज अंगको, राखै सब बिधि गोइ ॥
बगुला सम सोचै अरथ, पौरुष सिंह प्रमान ।
गहै अर्थ भिड़िया सदस, भागै ससा समान ॥

राज्य-ग्रहणके लिए राजाको साम, दाम, दंड और भेद इन चार उपायोंसे काम लेना चाहिए । परंतु विद्वान् लोग इसके लिये साम और दंडकी प्रशंसा करते हैं । जैसे कृषक लोग खेतीकी रक्षा के लिए सारे तृणोंको उखाड़ डालते हैं;

ऐसे ही राजाको चाहिए कि राज्यकी रक्षाके लिये शत्रुओं को निर्मूल करदे। जो राजा प्रजाके सुख-दुःखपर ध्यान नहीं करता, केवल कर मात्र ग्रहण करता है, उसका नाश थोड़ेही कालमें होजाता है। जिसप्रकार शरीरको कष्ट देनेसे सब इंद्रियोंको कष्ट होता है उसी प्रकार राज्यके पीड़ित होने में राजाका प्राण पीड़ित होता है। इसलिए राजाको चाहिए कि राज्य-संग्रहके लिए छोटे-बड़े बहुत से अधिकारी नियत करे। जब कोई दोष उत्पन्न हो, तो छोटा बड़ेसे कहे और राजाको ऐसे भेदिए दूत रखने चाहिए कि सम्पूर्ण गुप्त और प्रकट ठीक-ठीक वृत्तांत राजाको ज्ञात हो जाय। बहुधा राजाके अधिकारी लोग शठ होते हैं और पर द्रव्यको अन्याय तथा हठ से हर लेते हैं। इसलिए राजाको चाहिए कि प्रजाको उनसे बचाए। जो अधिकारी प्रजाको भय दिखा कर धन ले तो राजा उसको यथोचित दंड दे। राज-काजमें जितने भृत्यहों उनका वेतन महीने-महीने चुका दे।

राजा प्रजासे उतनाही कर ग्रहण करे जितना देने से वह दुखी न हो और इसपरभी ध्यान रक्खे कि उनको कितना लाभ होता है और कितना उनके काममें उठता है। राजाके राज्यमें जितने सत्कर्मी, विद्वान् और सच्चे तपस्वी हों, उनके लिए विहित जीविका नियत होनी चाहिए। जब उत्तम कार्य देखे, तब नम्र प्रकृति रहे और जब बुरा कार्य देखे तो कठोर प्रकृति बन जाय। जब किसी कारणसे राजा स्वयम् कार्यों को देखने से खिन्न हो, तो अपने आसनपर मंत्रियोंमेंसे मुख्य मंत्रीको, जो धर्मशील, जितेन्द्रिय और विद्वान्हो, स्थापित करे। राजा या राज्याधिकारियों की

सामर्थ्य होनेपर भी यदि प्रजाको चौरादिकी पीड़ा होती हो, तो उसका राज्य शोभित नहीं होता।

प्रजाका पालन राजा का परम धर्म है। राजाको एक पहर रात्रि रहनेके पूर्व उठकर नित्य-नैमित्तिक कार्य्यसे निवृत्त होकर, राज-सभामें प्रवेश करना चाहिए। जो मनुष्य दर्शन या भाषणके लिए आवें उनको आदर-सन्मानसे विदा करके पाँचों अंगसहित मंत्रियों के साथ किसी बातको विचारे। पहला अंग कर्मोंके आरम्भका उपाय है। पुरुष, द्रव्य, संपत्ति, देश और कालका विभाग दूसरा अंग है। तीसरा विनिपात अर्थात् कामका छेड़ना, चौथा प्रतिकार अर्थात् कार्य-सिद्धिका उपाय करना और पाँचवाँ कार्यका सिद्ध होना है। परंतु मंत्रियों को छोड़कर राज-मन्त्र को कोई दूसरा न जान पाए।

सोरठा।

जिस राजा को मन्त्र, गुप्तरहे बहु यत्न से।
सो नृप होत स्वतन्त्र, विघ्न-रहित भोगत धरा॥

दोपहर या अर्द्धरात्र के समय निश्चिन्त होकर राजा मंत्रियों के सहित अर्थ, धर्म और कामके अनुकूल मंत्रको विचारे। प्रथम विद्याका प्रचार, दीनोंकी रक्षा, दूतोंका भेजना, चतुर दूतोंके द्वारा दूसरे राजाके मनकी बात जानना; प्रजासे कर लेना, सेवकोंको धन देना, लोक-परलोकार्थ कर्म करना और भेद लेनेके लिए गुप्तचरोंको नियत करना आदि काम राजाके लिए अति आवश्यक हैं।

जो मुख्य गुप्त दूत राजाकी ओरसे नियत हों, वह योगी या तपस्वीका वेष बनाकर, शुभ आचरण दिखाते हुए, देश-देशांतरमें अपना माहात्म्य इस प्रकार बढ़ाए कि उस

से कोई भेद छिपा न रह जाय। फिर सच्चे-सच्चे वृत्तांत राजा को दिया करे।

राजाको छः बातोंकी चिंता प्रतिक्षण करनी चाहिए— सन्धि अर्थात् मिलाप, विग्रह अर्थात् लड़ाई, यान अर्थात् शत्रु पर चढ़ाई करना, आसन पर चुपचाप बैठा रहना, द्वैधीभाव अर्थात् दो शत्रुओंमें बिगाड़ कर देना और संश्रय अर्थात् बलवान् का आश्रय करना। इन बातोंमें जिस बात का अवसर हो राजाको वही करना चाहिए। कारणवश इन्हीं बातोंके अनेक भेद हो जाते हैं, उन सबका ध्यान रक्खे। जब जैसा संयोग हो, वैसा बर्ताव करे। जब अपने सहायक को प्रबल देखे, तब शत्रु से लड़े और जो अपने वर्ग को निर्बल देखे तो मिलाप करे। जो शत्रु प्रबल होकर पीड़ित करे, तो किसी दूसरे ऐसे प्रबल राजा के साथ मिलाप करे, जो शत्रुके विनाशमें समर्थ हो। जब आश्रय करनेमें शंका हो, तो निर्भय होकर युद्ध करे। नीति-निपुण राजाको चाहिए कि ऐसा उपाय करे कि शत्रु, मित्र और उदासीनोंसे सब बातमें अपनी योग्यता बढ़ी रहे और भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल का विचारांश रक्खे।

युद्ध-कार्यमें युद्ध-शास्त्रकी रीतियोंके अनुसार कार्य करे— शत्रुओं पर चढ़ाई करनी हो, तो बहुधा मार्गशीर्ष फाल्गुन अथवा चैत्र में यात्रा करे और दूसरे समय में भी जब अपना जीतना ध्रुव जाने और शत्रुको विपत्ति-ग्रस्त देखे, तो उस पर चढ़ाई करसकता है। परन्तु अपने राज्यकी रक्षाका दृढ़ उपाय करके आवश्यकता से भी अधिक युद्ध-सामग्री और गुप्त दूतों को साथ लेकर प्रस्थान करे। ज्यों-ज्यों यात्रा

करता जाय, त्यों-त्यों आगे सुगम मार्ग बनवाता जाय। हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल और टहलुओंके खाने-पीने और औषध आदि सामग्रीका प्रबंध भली-भाँति करता रहे और अपने गुप्त मित्र, जो शत्रुकी सेवामें रहते हों और जो वहाँ जाकर फिर लौट आवें, उनके विषय में बहुत सावधानी रखनी चाहिए।

युद्ध-शास्त्रकी रीतिके अनुसार सेनाको दण्ड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़ आदि व्यूह रचनासे जैसा संयोग पड़े, ले चलना चाहिए। दण्ड-व्यूह वह है, कि आगे बलाध्यक्ष, मध्य में राजा या राजाका कोई स्थानापन्न, पीछे सेनापति, दोनों पार्श्व में हाथी, उसके पास घोड़ा और फिर प्यादे चलें, तो दण्ड-व्यूह बनता है। चारों ओर से भय होनेके समय इस व्यूहसे रक्षा मिलती है। व्यूह जब सामने सुईकी तरह पतला और पीछे मोटा हो, तो वह शकट-व्यूह कहलाता है। जब पार्श्वमें भय उत्पन्नहो, तो इन दोनों व्यूहोंसे चलना चाहिए। जब सेनाका आगा-पीछा मोटा हो और बीच पतला हो, तो वह मकर-व्यूह कहलाताहै। जब आगे-पीछे भय उत्पन्नहो, तो इस व्यूहको बनाकर चलना चाहिए। चींटीकी पंक्तिकी तरह आगा-पीछा समहो। और वीर पुरुष आगे रहें, तो सूची-व्यूह कहलाता है। जब आगे भय उत्पन्न हो तो सूची-व्यूहसे चलना आवश्यक है। जिस ओर भयकी शंका हो, उधर कटकका विस्तार करे दूसरी ओर समान सेना रहे और मध्यमें स्वामी रहे, वह पद्म-व्यूह कहाता है। पुरसे निकलकर बाहर इस व्यूहके द्वारा राजाको सदा गुप्त रहना चाहिए। दस हाथी, दस घोड़ा, दस रथ और दस प्यादे, इतनेका जो

एक स्वामी होता है, उसका नाम पत्तिक है और दस पत्तिकका स्वामी एक सेनापति कहलाता है। दस सेनापतिका अधिकारी एक बलाध्यक्ष कहाता है। सेनापति और बलाध्यक्षको चारों ओर रखना चाहिए।

भेरी, पटह, शंख आदि बाजनोंमें ठहरने, भागने और लड़ने इन तीन प्रकारका संकेत नियत कररक्खे। जब जैसा अवसर हो वैसी आज्ञा सेनापति बलाध्यक्षको दे। जब सेना थोड़ी हो, तो मिलकर युद्ध करे और जब सेना बहुत हो तो जैसी इच्छाहो वैसे ही सूची आदि व्यूह-रचनासे लड़े। समथल भूमिमें नौका और हाथीसे, वृक्ष वन आदि युक्त भूमिमें धनुष-बाण आदिसे और स्थल भूमिमें ढाल-तलवारसे—जैसा उचित संयोग हो—युद्ध करे। युद्धके समय जिस देशके मनुष्य वीरता में प्रबल होते हों उन योद्धाओंको सबसे आगे रक्खे। व्यूह-रचनाकरके युद्धके बाजन बजाकर और सेना सजाकर अपने उत्साहकारी वचन सुनाते हुए वीरों को हर्षित करना चाहिए और युद्ध करनेवाली अपनी सेनाकी चेष्टासे विचार करता रहे कि वह शत्रुसे मिल तो नहीं गई। शत्रु-दुर्ग में रहे या बाहर, युद्ध करताहो या नहीं, परन्तु उसको घेररहे और उसके राज्यको पीड़ा दे। घास और लकड़ी में बेकाम वस्तु डाल कर दूषित करदे। तड़ाग, गढ़, अटारी, खांई आदिको गिराकर समथल करदे और जिस उपाय से शत्रुओंको शंका उत्पन्नहो, वह उपाय करता रहे। शत्रुके यहाँ जितने राजवंशी और मंत्रीगण हों, उन्हें मिलाकर अपने वशमें करे और उनकी चेष्टा को जाने कि, यह वशमें हुए हैं या नहीं,

अनुकूल समय पाकर युद्धमें उत्साह करे और विपरीत समयमें यत्नसे युद्धको बचाता रहे। जहाँ तक होसके साम, दान और भेदकरके शत्रुओंके जीतने का उपाय करे। केवल युद्धही का भरोसा न रक्खे। क्योंकि लड़ाई में हारना-जीतना दोनों साथ हैं। जब राजाकी किसी प्रकार जीत हो जाय, तो उस समय दान-पुण्य करे और सम्पूर्ण मनुष्यों को अभय दे। संक्षेपसे सबका मत समझ-बूझ कर उस राजाके वंश में जो हो, उसको उसी स्थानमें स्थापित करे। उसराजा और उसके मन्त्रियों से कहे कि, ऐसा तुम करना और ऐसा न करना; और उनका जैसा धर्म तथा रीति हो, उसका वैसाही प्रमाण रक्खे। रत्न और उत्तम वस्तुके देनेसे हारेहुए राजा और उसके प्रधानों को आश्वासनदे। अपनी सेना, मंत्रियों और प्रधानों को सत्कारसे संतुष्ट करे।

दोहा।

देखतमें दुर्बल जचें, कारज करें महान।
पाइ मित्र यहि भाँतिको, भूप रहत बलवान॥
ज्ञानी चतुर कृतज्ञ बुध, कोमल प्रकृति सुजान।
ऐसो मित्र महीप को, करत सदा कल्यान॥

सोरठा।

पण्डित सूर कुलीन, दाता धीर कृतज्ञ बुध।
ऐसो सत्रु बलीन, कभी न टारे टरतु है॥
जो नर बहु गुण गाथ, साधु उदार कृपायतन।
ऐसो नृप ले साथ, लड़े शत्रु सों भूपवर॥
जहँ देखै नहिं जीत, यद्यपि भूमि सुहावनी।
तजे सकल यह नीति, आतम रक्षा के लिए॥

दोहा।

बिपत काल धन जोरई, धन दै तिया बचाय।
धन धरती तिय जाइ बरु, केवल जीव न जाय॥
विपतिकाल जबहीं पड़े, तब नहिं नृप घबराय।
धीरे-धीरे सबन को, दृढ़तर करे उपाय॥
यत्न-यत्न कर्त्ता पुरुष, यत्न सिद्ध जो अर्थ।
आश्रय करि इन तीनको, नृप तब होइ समर्थ॥

इन उपायोंके सिवाय राजाको चाहिए कि अपने शरीर की रक्षाके लिए ऐसी वस्तु, जिससे समयका ज्ञान हो, जैसे घड़ी तथा यन्त्र और ऐसी वस्तु, जिससे दूषित और विष-मिश्रित अन्न आदिकी परीक्षा होजाती है, जैसे चकोर पक्षी—जो विष मिले हुए अन्नके देखने से उसके नेत्र लाल होजाते हैं—और उपकारक मणि, रत्न, औषध और वैद्यों को सबकालमें अपने पास उपस्थित रक्खे और शास्त्रकी लिखी हुई रीति से आहार-विहार, शयन, चेष्टा आदिको यथोचित प्रकार से करे। सिपाही हथियार, वाहन, आभरण आदिको देखा करे और नियत समयपर मन्त्रियोंके उचित सम्मतिको सुने और शरीर के सुखके लिए नियत समयमें सोवे।

यहाँ तक राजाका अर्थ-प्रबन्ध कहा गया है कि जिसके बर्तावसे राजा सदा सुखी रह सकता है। इसके उपरांत राजा का एक यह बड़ा काम है कि, जैसा छोटा या बड़ा राज्य हो, प्रजाकी रक्षा और न्यायकी सुगमता के लिए ठौर-ठौर न्याय-सभा खोल दे और उन न्याय-सभाओंके, उन मनुष्योंको न्यायाधीश नियत करे, जो जाति में

कुलीन, विद्या-गुणमें प्रवीन, धर्मिष्ठ, ईश्वरनिष्ठ, परलोक-भय-सहित और क्रोध-लोभ-रहित हों। उन न्यायाधीशों को समय-समय पर शिक्षा होती रहे कि धर्मशास्त्र और प्रचलित व्यवस्था या स्मृतिके अनुसार और अपने बुद्धि-बल से जीव-सम्बन्धी या धन-सम्बन्धी-कार्यके विवादका यथोचित निर्णय करके न्याय किया करें। सब न्यायाधीशोंके कार्य-प्रवृत्तिकी न्यूनाधिकता राजाको खुद देखना चाहिए या मंत्रीको इस बातकी आज्ञा दे कि, कोई प्रजा न्याय पानेसे विमुख न हो। यथार्थ बातके निर्णय करनेमें राजा तथा राज्याधिकारियोंको वही उपाय करना चाहिए, जो शत्रुके जीतने और राज्यके बढ़ानेमें आवश्यक होते हैं। राजाका न्याय परममित्र और अन्याय बड़ा भारी शत्रु है। इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए कि अन्याय-रूपी शत्रु कहीं राज भरमें बैठनेके लिए स्थान न पाए। क्योंकि अन्याय होनेसे सज्जनोंकी हानि और दुराचारियोंकी वृद्धि होती है। अन्याय बढ़नेसे देशका कल्याण नहीं होता। वरन् जब अन्याय बहुत बढ़ जाता है, तब अंतमें राजाको निर्मूल कर देता है। इसलिए राजाको चाहिए कि तन, मन और धनसे न्याय-कर्ममें प्रवृत्त और प्रजा-पालनमें सन्नद्ध रहकर, सज्जनोंकी रक्षा और दुराचारियोंके दण्ड देनेमें श्रम और उद्योग करता रहे, जिससे अनरीति और मर्यादाके विपरीत कोई काम राज्यमें न होने पाए।

चतुर्थ तरंग।

आपत्ति-काल के धर्म।

राजा सुमति ने कहा कि हे मित्र! यदि राजा दीर्घ सूत्री, भाई-बंधुओंसे विमुख और धन-धान्य, बल, सेना, मंत्री और इष्ट-मित्रसे हीन होकर शत्रुओंके भय या आपदा में पड़ जाय तो वह क्या उपाय करे?

सन्मित्रशर्म्माने कहा कि राजन्, यदि ऐसी बात आ पड़े, तो राजाको चाहिए कि जब अपने ऊपर प्रबल शत्रु बाहरसे चढ़ाई करे, तो उसके साथ तुरंत मिलाप करले। यदि वह किसीप्रकार मिलाप न चाहे, तो संपूर्ण द्रव्यको साथ लेकर राजधानीको छोड़ शरीरकी रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि आत्माके रक्षित रहनेसे फिर उपाय हो सक्ता है। यदि धन आदिके व्यय करने से भी वह आपदा दूर हो सके, तो अवश्य दूर करना और आत्माको बचाना उचित है और जब बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारके शत्रुओंसे भय उपस्थितहो तब तुरंत मिलाप कर लेना या तीव्र बलसे हटा देना चाहिए। क्योंकि जो राजा उत्साहयुक्त और हर्षित चित्त होकर लड़ता है, वह थोड़ीसी सेनाके द्वारा ही शत्रुको जीत लेता है। वह मरनेपर स्वर्ग पाता है। और जीतने पर राज्य करता है। परन्तु जबतक साम-दामसे काम निकले, तबतक युद्ध न करे। राजाको आपदा तभी घेरती है जब वह व्यसन और विषयोंमें आसक्त होकर कर्तव्य-

कार्यको छोड़ता और अकर्तव्य कर्मको ग्रहण करता है। राजा को चाहिए कि अपने राज्य या परराज्यसे यत्नपूर्वक द्रव्य इकट्ठा करे, क्योंकि धर्मसे राज्यकी वृद्धि होती है और धर्म द्रव्यके आधीन है।

दोहा।

धन न मिलै बल-रहितको, बिन धन नहिं बल होइ।
बल बिनु राज न राज बिन, सुख पायो जग कोइ॥

राज्यके बढ़ानेका मुख्य कारण धनहै, परन्तु राजाको नीति-पूर्वक धन-संग्रह करना चाहिए और अपने राज्य में कोई मर्यादा-रहित काम न करने पावे। अधर्म को बंद करना और धर्म का चलाना राजाहीका काम है; दूसरे का नहीं। क्योंकि बलवान् पुरुष जो काम करता है, वही सिद्ध होता है। जो कोई धर्मका प्रचार और अधर्मका निवारण करता है, उसके यश की वृद्धि होती है और प्रजा आनन्द से रहती है।

सन्मित्रशर्म्मा ने कहा कि हे राजन्! सुनिए, संसारमें आलस्य सबके साथ एक बड़ा भारी शत्रु है जो सत्कर्मका अवरोधक और दुःखदायी होता है, जिसके कारण दीर्घ-सूत्री मछली मारी गई। इसलिए राजाओंको किंचिन्मात्र आलस्य न करना चाहिए। क्योंकि आलस्य करना अशुभ का लक्षण है। कहावत भी है कि—

आलस निद्रा अरु जमुहाई, हैं ये तीनों यमके भाई।

मैं आपको आलसीकी एक कथा भी सुनाता हूँ, सुनिए। पूर्वकाल में एक ऊँट वन में तपस्या करता था। ईश्वर ने प्रसन्न होकर वर देने के लिए अपना एक गण उसके पास

भेजा और कहा कि ऊँट जो माँगे सो देना। वह गण निकट जाकर बोला कि तेरी तपस्या पूरी हुई; जो तुझे चाहिए वह माँग। तब ऊँट तो जन्मका आलसी था, उसने कहा कि मेरी ग्रीवा चार कोसकी लंबी होजाय कि जिससे मुझे कहीं आनाजाना न पड़े। एक जगह बैठा हुआ जहाँ चाहूँ वहाँ चारा खाया करूँ और पानी पिया करूँ। ईश्वरके गणने कहा एवमस्तु—अर्थात् जैसा तू चाहता है, वैसाही हो। उसकारण उस दिनसे उसकी ग्रीवा थोड़ेही अन्तर में कई-कोसकी होगई। तब से ऊँटने अपने आलस्यको इतना बढ़ाया कि एक स्थान में पड़ा हुआ कई कोस तक चारा चरता और पानी पीता रहा। उस स्थान से दूसरी जगह न हटता और जिस स्थान पर उसका शिर पहुँचता वहीं शिर रखकर सो रहता।

एक समय जब वह चर रहा था एक बड़ी आँधी आई और पानी बरसने लगा। ऊँटने घबराकर अपने शिरको कहीं पहाड़ की कन्दरामें डाल दिया। उसका धड़ तो वहाँसे कई कोसपर था और उस दिन इतना पानी बरसा कि पृथ्वी जलमयी होगई। एक स्यार अपनी स्यारिनीसमेत भींगा हुआ, शीतसे विकल, उस खोहमें पैठगया और भूखके मारे आहार ढूँढ़ रहा था। ऊँटकी ग्रीवा बड़ी दूर-तक चलीगई थी। स्यार और स्यारिनी दोनों मिलकर ऊँट का गला काट-काट कर खानेलगे। जब ऊँट को पीड़ा हुई तब छटपटा के गला सिकोड़ने लगा परन्तु जबतक ओर-छोर से सिकोड़ने में देर हुई, तबतक स्यार-स्यारिनी ने गलेको काटकर अलग करडाला और मांस को खाकर पानी बन्द होने पर बाहर निकल गए।

सोरठा ।

आलस दोष महान, देखो फल कैसो भयो ।
जाते ऊँट अयान, मरन लह्यो निज कर्मसे ॥
आलस तजि मतिमान, बुद्धि मूल जो विजयको ।
गहिए करि शुभ ज्ञान, यह मत मनु महराजकर ॥

तब राजा सुमति ने कहा कि यदि एकको कई शत्रु घेर-कर दबाएँ तो वहाँ क्या उपाय करना चाहिए ?

सन्मित्रशर्म्मा ने कहा कि सुनो राजा, यदि ऐसा समय आजाय तो किसी शत्रुसे तो मिलाप करे, किसी शत्रुका विश्वास भी करने लगे और किसी से लड़ता भी रहे। इसका भी एक उपाख्यान सुनाता हूँ। सुनो—

उपाख्यान ।

एक वनमें एक बड़ा भारी वटका वृक्ष था । उसपर भाँति-भाँति के पक्षी रहाकरते थे। उसकी जड़के नीचे बिल खोदकर पलित नामका एक मूसा रहता था। उसकी डार पर एक बिलाव जिसका नाम लोमस था, बैठकर पक्षियोंको पकड़-पकड़ कर खाता था। वहाँ एक बधिक प्रतिदिन जाल लगाकर रातको अपने घर चला जाता और रातभरमें जितने जंतु फँसते उनको सबेरे पकड़ लेजाता।

एकदिन दैवयोगसे लोमस बिलाव जालमें पड़ गया। पलित मूस अपने वैरी को फँसा देखकर आनन्दपूर्वक बिलसे निकला और बिलावके पास हँस-हँस कर चुगने लगा। थोड़ी ही देर में देखा कि एक दूसरा वैरी एक बड़ा भारी नेउला, जिसका नाम हरित था, चला आता है। फिर ऊपरकी ओर देखा तो तीसरा वैरी चंद्रक नाम उलूक, जिसकी बड़ी चोखी चोंच थी, ताक रहा है। तब

मूसको बड़ा संदेह हुआ कि यदि यहाँसे भागता हूँ तो नेउला खा डालेगा; नहीं भागता तो उलूक झपटकर मार लेजाता है और यदि जाल से छूटगया तो बिलाव ही खा-डालेगा। अब किसी प्रकार जीव बचने की आशा नहीं है। इसके पीछे मूसने सोचा कि जबतक उपाय करने की सामर्थ्य हो तबतक निराश न होना चाहिए क्योंकि जो बुद्धिमान् नीतिशास्त्रको जानता है वह आपत्ति-काल में नहीं डूबता और विपत्ति-सागर से पार होजाता है।

दोहा।

जीव रहे लों जिअनको, करिबो उचित उपाय।
बुद्धिमान तरि आपदा, लहत पार सुख आय॥

नेउला और उलूक ये दोनों शत्रु इस समय प्रबल हैं और बिलाव, जो मेरा परम वैरी है, वह भी आपदा में पड़ा है। मैं इससे मिलाप करूँ। यह बुद्धिमान् शत्रु है। अपने अर्थके लिए मिलाप करेगा। क्योंकि बुद्धिमान् शत्रु अच्छा होता है लेकिन मूर्ख मित्र अच्छा नहीं होता। यदि मुझसे और बिलावसे मित्रता हो जायगी, तो बिलावके डर से नेउला और उलूक मेरे पास न आसकेंगे।

यह सोच-विचारकर वह मूस बिलावसे बोला कि भाई, हम तुम दोनों विपत्तिमें पड़े हैं। यदि मुझे न मारो, तो मैं तुम्हारा बन्धन काटदूँ। उधर नेउला और इधर उलूक, ये दोनों मेरे प्राणके भूखे हैं। अब वह उपाय होना चाहिए कि हमारा और तुम्हारा दोनों का प्राण बच जाय। इस प्रकार पलित मूसकी बात सुनकर लोमस बिलाव ने कहा कि भाई, हम तुम दोनों विपत्ति में पड़े हैं। जिस प्रकार जी बचे वह

उपाय करो। मैं तुमको न खाऊँगा। तुम मेरे परम मित्र होगे; और तुम गुरू और मैं चेला होकर तुम्हारी सेवा करूँगा।

मूस बोला कि जैसी बड़ों की रीति होती है, वैसेही आप कहते हैं। परन्तु इस समय नेउला और उलूक से मेरा प्राण बचाइए और मैं तुम्हें जाल काटकर छुड़ाऊँगा। बिलाव बोला कि भाई, तुम मेरे पास आओ मैं अपने प्राणके समान रक्षा करूँगा और यदि छूट जाऊँगा, तो जन्म भर गुण मानूँगा। यह सुनकर मूस बिलाव के निकट चला गया और बिलावने मूसको अपने लड़के के समान अपने कोरे में ले लिया। यह चारित्र देख नेउला और उलूक आश्चर्य-चकित होगए, कि इन दोनोंमें मित्रता होगई, अब मूस हमारे हाथ न लगेगा। यह सोचकर दोनों निराश होकर वहाँ से चले गए।

तब मूसने विचारा कि यदि अभी जाल काट दूँ, तो ऐसा न हो कि बिलाव मुझे खाडाले। जब बहेलिया पास आवेगा तब काट दूँगा जिससे बिलाव उसके डरसे तुरंत भाग जाएगा और मुझे भी न खासकेगा। इसलिए जालको धीरे-धीरे काटने लगा। बिलाव ने कहा कि झट-पट बन्धन काट दो जिससे दुःखसे मेरा छुटकारा हो। मूसने कहा कि अभी काटनेका समय नहीं आया है। यदि मैं अभी बन्धन काट दूँ तो तुम्हारा तो जी बच जायगा, पर तुम्हीं मेरे काल होजाओगे। जो अपने बचावका ख़याल न करके दूसरे का बचाव करता है, वह आप मारा जाता है।

जब वह चांडाल निकट आवेगा, तब झटपट फन्दा काट दूँगा। तुम अपनी डारपर और मैं अपने बिलमें चला जा-

ऊँगा। इसमें दोनों की भलाई है। इसप्रकार बात-चीत होतेहुए जब रात बीतगई और वह परिघ नाम बधिक साथियोंसमेत आया, जिसको देखकर बिलावका जी संकेत में पड़ गया। तब मूसने फन्दा काट दिया और बिलाव उछलकर वृक्षकी डाल पर चढ़ गया और मूस अपने बिलमें घुस गया। निदान बाधिक निराश होकर अपना जाल लेकर घर चला गया। तब लोमस बिलावने मूससे कहा कि तुम हमारे बड़े उपकारी हो। आज तुमने हमारा जीव बचाया है, आवो हम तुम मिलें और जो कुछ उचित शिक्षा हो, वह तुम मुझे, अपना लड़का जानकर, सिखाओ। हम तुम्हारी बात न टालेंगे। तुम हमारे निकट परमेश्वर के समान हो, हम घर भर तुम्हारी सेवा करेंगे। तुम बुद्धिमें शुक्राचार्य्यके समान हो जिससे तुमने ऐसी विपत्ति में अपने और हमारे प्राण बचाए।

पलित मूसने कहा कि तुम सच कहते हो। परन्तु हमारे विचारमें किसीका कोई शत्रु-मित्र नहीं है। जिसका जिससे अर्थ निकलता है, वह उसको मित्र जानता है और जिससे हानि होती है, उसको शत्रु मानता है। शत्रु-मित्र होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। कहा भी है—

चौपाई।

सकल जगत की है यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।

कितने मित्र समय पाकर शत्रु बन जाते हैं और कितने शत्रु काल पाकर मित्र-भाव मानने लगते हैं। इसलिए किसी के विषय में विश्वास न करना चाहिए। विश्वास करने से धोखे में भय उत्पन्न होता है। संसार में माता-पिता,

भाई, मामा-भानजे आदि जितने कुटुम्बी हैं, सब उसीसे प्रीति करते हैं, जिससे उनका कुछ मतलब होता है। यहाँ तक कि जो पुत्र पतित और भ्रष्ट होता है, उसको माता-पिता त्याग देते हैं। विना कारण प्रीति नहीं होती इसलिए हमारे-तुम्हारे बीच में प्रीतिका जो कारण था वह बीत गया। अब तुम्हारे पास आनेसे हमारी भलाई नहीं देख पड़ती। इसलिए ऐसी बात बुद्धिमान् से मत कहो। बुद्धिमान् लोग अपना लाभ और हानि भली-भाँति जानते हैं। तुम पहिले हमारे शत्रु थे, फिर कारण पाकर मित्र बन गए। अब फिर शत्रु बनना चाहते हो, यह तुम्हारी चतुराई है। इस लिए मुझे क्या पड़ी है कि अपना तन संकल्प करके तुम्हारे पास आऊँ—जो जीव बड़ी युक्तिसे बचा है, उसे खो बैठूँ। जैसे तुमने मेरा उपकार किया वैसे ही मैंने तुम्हारी भलाई की। अब दोनों समान होगए। इसलिए बार-बारकी मिताई अच्छी नहीं होती। पहिले तो फंदा काटनेके लिये मिताई की थी, अब हमारे खानेके निमित्त मिताई चाहते हो। क्योंकि रात भर फंदेमें पड़े रहे हो, खाने को कुछ नहीं मिला। इसलिए अब छूटने पर भूख लगी है। जिस प्रयोजन से हमारी प्रशंसा करते हो, वह भी मैं जानता हूँ। जो बुद्धिमान् होगा, वह शत्रुकी बातका कभी विश्वास न करेगा। यदि तुम्हारा कुछ काम हो, तो मैं कर दूँ। परन्तु अपना जीव कभी न दूँगा। क्योंकि जीवके निमित्त धन, रत्न, राज्य सभी छोड़ देना चाहिए। जो लोग अपने प्राण की रक्षा करते और शत्रुके स्वभावको जानते हैं उनके ऊपर कोई विपत्ति नहीं पड़ती।

पलितकी बात सुनकर लोमस बिलाव लज्जित होकर

बोला कि मैं सच कहता हूँ। यदि तुम्हें धोखा दूँ तो मेरा शरीर मेरे काम न आए और यह मेरा स्वभाव है कि मित्रोंसे बड़ी प्रीति रखता हूँ। तुमने तो मेरा जीव ही बचाया है इसलिए तुम्हारे साथ विशेष प्रीति होगई है। तुम निश्चिंत रहो, मैं किसीका गुण नहीं मिटाता और न धर्म छोड़ाता हूँ। यदि तुम कह दो तो हम घर भर अपना प्राण तज दें और क्या होसकता है। बिलावकी बात सुनकर मूसने फिर कहा कि भाई, तुम बड़े साधु हो और हमारी भलाई चाहते हो। परन्तु मैं तुम्हारा विश्वास न करूँगा। बुद्धिमान् लोग विना कारण शत्रुका विश्वास नहीं करते और न शत्रुके वशमें आते हैं। इस व्यवहार में शुक्राचार्य्यने दो श्लोक कहे हैं—

श्लोक।

१—शत्रुः साधारणे कृत्ये, कृत्वा सन्धि बलीयसी।
समाहितश्चरद्युक्तया, कृतार्थश्च न विश्वसेत्॥
२—न विश्वसेदविश्वस्ते, विश्वस्ते नाति विश्वसेत्।
नित्यं विश्वासयेदन्याम्, परेषां तु न विश्वसेत्॥

अर्थात्—बलवान् शत्रुके साथ यदि किसी कामके निमित्त मिलाप किया जाय तो सर्वदा सचेत रहना चाहिए और जब काम निकल जाय तो विश्वास न करना चाहिए। जिस मनुष्य पर अपना विश्वास न हो उसका विश्वास करना उचित नहीं और जिस पर विश्वास हो उस पर बहुत अधिक विश्वास करना अच्छा नहीं। वरन् ऐसा होना चाहिए कि दूसरे अपने पर विश्वास करें लेकिन अपना विश्वास दूसरे पर न हो।

यह राजनीति का सारांश है कि अपना कल्याण चाहे तो किसी का विश्वास न करे। विश्वास के कारण दुर्बल बलवानों को मारडालते हैं। बधिकके डरसे जैसे तुम भागे हो, ऐसाही तुमसे हमको भागना चाहिए। यह बात सुन-कर बिलाव उस पेड़से उतरकर दूसरे पेड़ पर चला गया और मूस भी वह बिल छोड़ कर और बिलमें जाकर रहने लगा।

सन्मित्रशर्म्माने कहा कि देखो, मूसने कैसी चतुराई से तीन शत्रुओंसे अपनेको बचाया और बादको बिलावका कपट जानकर अलग हो गया। इसी प्रकार मनुष्यको चाहिए कि जब कई शत्रुओंका भय देखे तो प्रबल शत्रुको विश्वास देकर उसके बलसे औरोंको निराश कर, अपने प्रयोजनको निकाले और पृथक् होजाय। उसका विश्वास कभी न करे।

उपाख्यान।

कांपिल्य देशमें राजा ब्रह्मदत्तके यहाँ एक पूजनी पक्षी रहता था। उसके एक बच्चा हुआ और राजाके भी एक पुत्रका जन्म हुआ। वह पक्षी समुद्रके तटसे दो अमृतके समान फल लाया। उसमें से एक फल उसने अपने बालक को और दूसरा राज-पुत्रको दिया, जिसके खानेसे दोनों बालक बलवान् और हष्टपुष्ट होकर उनके तेजकी वृद्धि हुई।

एक दिन कहीं एकान्त स्थान में खेलते २ राजपुत्रने पूजनीके बच्चेको मारडाला। जब पूजनी पक्षी आया और अपने पुत्रको मरा हुआ देखा तब उसने शोक, संताप और क्रोधमें आकर राजपुत्रकी आँखें फोड़ डालीं। तब राजा ब्रह्मदत्तने कहा कि जैसे हमारे लड़केने तुम्हारे लड़केको

मारडाला, वैसेही तुमने हमारे लड़केकी आँखें निकाल लीं। अब दोनों समान होगए। अब तुम कहीं मत जाना। पूजनी ने कहा कि जिसका कोई थोड़ा भी अपकार करे फिर उस के निकट रहना अच्छा नहीं होता।

दोहा।

बैरी दुख साहि चुप रहे, नहिं कीजे विश्वास।
समय पाइ वह डसतु है, तजत न गँव की आस॥

ब्रह्मदत्तने कहा कि जो जैसा करे, उसके साथ वैसा करनेमें अपराध नहीं होता। अपना दावँ मिल जाता है। पूजनी बोली कि वैरियोंका विश्वास कभी न करना चाहिए। पहिले मीठी २ बात और चुचकार-पुचकार कर दिलासा देते हैं। पीछेसे घात पाकर धोखा देते हैं। राजा ने कहा कि साथ रहते-रहते फिर प्रीति होजाती है।

पूजनीने कहा कि वैर पाँच प्रकारसे होता है—स्त्री के कारण, किसी पदार्थके लिए, बात-चीतमें, शत्रुके कारण और अपराधसे। इन सबकी अग्नि बुझ जाती है, परंतु क्रोधकी अग्नि नहीं बुझती। ब्रह्मदत्तने कहा कि सुख-दुःख कालकी गतिसे होता है। इसमें किसीका दोष नहीं। पूजनी बोली कि यदि कालकी गति सच है तो भाई-भाई क्यों लड़ते-भिड़ते हैं; रोगीको वैद्य क्यों ओषध देता है और लोग शोक-संताप क्यों करते हैं? प्राण और पुत्र सबको प्यारे होते हैं। जैसे हमने अपने पुत्रके शोकमें तुम्हारे पुत्रकी आँखें फोर डालीं, वैसेही तुम हमको मारोगे।

ब्रह्मदत्तने कहा कि हम तुमको कभी न मारेंगे, तुम हमारी बातका विश्वास रक्खो। पूजनीने कहा कि जो मैं राग-रसिक सर्प और सुनाम गायककी कथा न जानती

तो कदाचित् तुम्हारे धोखे में आजाती। ब्रह्मदत्तने पूछा कि यह कथा कैसी है?

पूजनीने कहा कि एक वनमें रागरसिक सर्प रहता था। उसके बिलमें बहुतसे रत्नोंकी राशि थी। उन रत्नों-के प्रकाशसे वहाँ उजाला होजाता था। किसी समय सुनाम गायक हाथमें सितार लिएहुए कहीं से आ रहा था। उस स्थानपर मनुष्यका अनुमान करके गया। परंतु वहाँ कोई न था। केवल उस बिलसे प्रकाश निकलता था। सुनाम गायक उसको दैवी चमत्कार समझ वहाँ बैठकर गानेलगा। जब वह सर्प बिलसे निकलकर राग सुनने लगा, तब गायकने उसकी प्रसन्नता देख निडर होकर रातभर गाया-बजाया किया। प्रातःकालके समय सर्पने उसे एक हीरा दिया और कहा कि नित्य राग सुना जाया करो। महीनेमें तुम्हें एक हीरा मिलेगा निदान वह गायक उस दिनसे नित्य रातके समय राग सुनाने जाया करता और महीने में एक हीरा पाकर अपने घरमें आनन्द करता था।

एक दिन वह कहीं चलागया और वहाँ अपने पुत्रको भेजा। जिस दिन उसका पुत्र वहाँ गया, उस दिन महीना पूरा होगया था। गाने-बजाने के पीछे सर्पने उसको एक हीरा दिया। दूसरे दिन गायकके पुत्रने सोचा कि इसके बिलमें बहुतसे रत्न भरे हुए हैं। ऐसाहो कि इस सर्प को मारडालूँ और बिल खोदकर सब वस्तु उठाले जाऊँ जिससे प्रति दिनके आने जानेका दुःख मिटजाय और घर बैठे राज्य करूँ। निदान, दूसरे दिन जब गा-बजा चुका

तो उसने एक ऐसा डंडा मारा कि उसकी पूँछ कट गई। सर्पने भी उछलकर उसे ऐसा डसा कि वह काटतेही पृथिवी में गिर पड़ा और थोड़ेही समयमें निष्प्राण होगया।

जब सुनाम गायक लौटा और पुत्रका समाचार न पाया तो घबड़ाया हुआ दौड़ा वहाँ जाकर पुत्र को मरा पाया। और शिर पीट-पीट कर पछताने लगा। तब सर्पने सब अपना समाचार उससे कह सुनाया। अपनी पूँछ दिखाई और कहा कि तुम भी अब यहाँ मत आना। गायकने कहा कि इसने जैसा काम किया, वैसा फल पाया—प्राण गँवाया—परंतु मेरे ऊपर कृपा करके जो टुकड़ा देते हो, उसे दिया करो। मुझे दूसरे का दर मत दिखाओ। सर्पने कहा कि तू सच कहता है परंतु तुम्हारे-हमारे बीच में जो वैर उत्पन्न होगया है उसको कौन मिटा सकता है। गायकने कहा कि मैं अपने प्रभुसे कभी न वैर करूँगा। जो हो गया सो होगया। सर्पने कहा कि तू झूठ कहता है। तेरा पुत्र-शोक और मेरा पूँछ-शोक, जो वैर का कारण है, कभी न मिटेगा। कहा भी है—

दोहा।

जहां वैर अति बढ़तु है, तहाँ न प्रीति सँयोग।
पूँछ-शोक नित सर्पको, गायकको सुत-सोग॥

इसी प्रकार सर्पके वचन सुनकर गायक हाथ मलता हुआ अपने घर चलागया। पूजनीने राजा ब्रह्मदत्तसे कहा-कि ऐसे ही मैं आपका विश्वास न करूँगी और इतना कह कर वह दूसरे देश को चलीगयी।

पञ्चम तरंग।

शूरता और वीरता।

दोहा।

लघु वय कृश तन वीर नर, देत शत्रु उर लात।
जिमि तोड़त है सिंह-शिशु, मत्त गजन कर गात॥

राज-धर्मकी पूर्ण ज्ञाता और साहस तथा उत्साह से सम्पन्न पूर्वकालमें एक बिन्दुला नाम की महारानी थी। एक बार उसका पुत्र संजय सिंधुराजासे लड़ाई में हार कर दीन चित्त होकर सोरहा था। बिन्दुला अपने पुत्रकी कायरता और दीनता देखकर और राज-धर्म विचार कर, वीरता तथा साहसके बढ़ानेवाले बचनोंसे पुत्रसे कहा कि तू मेरा दुःखदायी और शत्रुका सुखदायी पुत्र है। तू हमारे पेटसे पैदा हुआ मालूम नहीं होता। कहाँ से आया है? रणभूमिमें आलस और कायरता ग्रहण करके तू जन्म भर के लिए क्यों निराश होता है? हे निन्दित कर्म के अभिलाषी! तू अपनेको सोच, तू कौन है और किसके वंश का है? अपने मनको दृढ़ करके उठ, तेरे हारनेसे सब शत्रु लोग सुखी और मित्रगण दुखी होरहे हैं। छोटी-छोटी नदियाँ और छोटे मनुष्य थोड़े ही में संतोष कर लेते हैं। तू किस लिए शत्रुसे हारकर मृतकके समान पड़ा है और नीच कर्मके करनेसे नीच बनता है। तेंदुएके अंगारके समान शत्रुके निकट मुहूर्त्त भर प्रज्वलित हो और भूसीकी आग के समान केवल धुआँ मत बन जा। क्योंकि थोड़ी देरका

जलना अच्छा होता है और बहुत समय तकका धुआँ अच्छा नहीं होता। जो मनुष्य अपने योग्य विहित शुभ कर्म करता है, वह धर्मसे उऋण होजाता है और उसकी कहीं निन्दा नहीं होती। पण्डित लोग कर्मका आरम्भ करते हैं और प्राप्ति-अप्राप्ति का सोच नहीं करते। पुत्र, तू अपने बलको सँभाल और धर्मको आगे कर। तेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ। सारी कीर्त्ति जाती रही और भोगका मूल कटगया। तू किस लिए जीता है? तुम सोंचो कि तुम्हारे निमित्त तुम्हारा कीर्त्तिमान् कुल डूब गया और कोई नाम नहीं लेता।

जो पुत्र विद्वान, शूर, धनवान् और यशस्वी होताहै उसके पिता-माताकी प्रशंसा होती है। जो पुत्र शुभकर्म करके लोकमें प्रसिद्ध न हो, ऐसे पुत्रका न होना अच्छा है। क्योंकि जो मनुष्य दुर्यश और अपकीर्त्तिरूपी दुःखको सहताहै और अपनी कायरता से शत्रु का हर्ष बढ़ाता है, उससे बंधुवर्ग सुख नहीं पाते। इस समय तुम उत्साह और बलसे रहित हो रहेहो; तुम्हारे जीते जी हम सब वृत्ति-हीन होकर राज्यसे निकाले जाएँगे और संपूर्ण कामनाओं तथा मनोरथ से भ्रष्ट होंगे। वंशका बोरनेवाला ऐसा पुत्र मेरे समान दूसरी किसी रानीके उत्पन्न न हो। जो क्षमावान् और अमर्षरहित है; वह न स्त्री है और न पुरुष। क्योंकि संतोष से लक्ष्मी और यश दोनों जाते रहते हैं। हे संजय, अमर्षी और समर्थ पुरुष ऐसे नहीं होते हैं; जैसा तू है। अतः उठ और मुहूर्तमात्रमें शत्रुओंका शिर तोड़। तू अपने को अपकीर्त्तिरूपी पापसे क्यों नहीं छुड़ाता? हृदयको लोहे के समान दृढ़ करके चेत कर कि तू पुरुष होकर स्त्रीकी

नाईं जीता है। क्योंकि पुरुष शब्दका यही अर्थ है कि, शत्रु-ओंके मान तोड़नेमें सदैव अमर्षयुक्त रहे। शूरवीर सिंहवृत्त राजाके राज्यमें प्रजा सुख भोगती है और जो अपने सुखको छोड़कर लक्ष्मी को ढूँढ़ता है वह थोड़े ही समय में अपने आधीनोंको सुखसे पूरित करदेता है।

इस प्रकार माताके वचन सुनकर पुत्रने कहा कि यदि तू मेरे ऊपर कृपा-दृष्टि नहीं करती और सब पदार्थोंकी आ-कांक्षा रखती है तो मेरे विना सारी पृथ्वी, आभरण और भोग प्रत्युत जीनातक, तेरा किस कामका है ? माताने कहा कि हे पुत्र ! जो कृपण तथा निर्बल होकर चटक (टलहुप) से रहित पराई उपजीविकासे जीते हैं, उनकी वृत्ति मत धारणकर। बादलोंके आश्रयीभूत होकर जिस तरह सब जीव जीते हैं, इसी प्रकार तुम्हारे पीछे विद्वान् और मित्रगण जीते हैं। फलवान् वृक्षके समान, जिसके निकट जीवोंका निर्वाह हो उसीका जीना ठीकहै। जो निजबाहुबलसे ऐश्व-र्यको बढ़ाकर अपने आश्रित सम्पूर्ण जनोंको पालता है, उसकी लोकमें सत्कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति होती है।

यदि इस समय तुम पौरुष करना नहीं चाहते, तो इससे बहुत दिनके लिये कुमार्गगामी होजाओगे। जिसके जैसा पराक्रम और शक्ति हो वह जीने के लालच से यदि वैसाही विक्रम न करे तो वह चोर कहलाता है। इस समय तुम्हें अर्थ-सोधक और गुणकारी बातें उसीप्रकार अच्छी नहीं मालूम होतीं जिस प्रकार मरणहारको ओषध अच्छी नहीं लगती। सिंधुराजके लोग दुर्बलता के कारण उससे संतुष्ट नहीं है। वे मूढ़ हैं और उसके विनाशकी प्रत्याशा देख रहे

हैं। यदि तुम्हारा पराक्रम देखेंगे, तो वे ही तुम्हारे सहायक होजायँगे और शत्रु जीतने के लिए वे तुम्हारे लिए पहाड़ी क़िले बन जायेंगे। जैसा तुम्हारा नाम संजय है—अर्थात् भली भाँति जीतनेवाला—वैसा गुण तुममें नहीं। इसलिए हे पुत्र! अपने नामार्थको व्यर्थ न करो। जब तुम बालक थे, तुम्हें देखकर एक विद्वान् ज्योतिषी ब्राह्मणने कहा था कि बड़े क्लेशको पाकर इसके फिर वृद्धि पैदा होगी इसलिए उसके वचनको स्मरण करके मैं बार-बार कहती हूँ कि तुम्हारी विजय होगी। जिसके अर्थ सिद्ध होनेमें बहुतोंका अर्थ सम्भवित हो, उसका अर्थ अवश्य सिद्ध होता है। ऐसा नीति-निपुण कहते हैं। जिस कामके होनेसे अनेक जीवों की भलाई होती हो, चाहे अन्तमें वृद्धि हो या हानि, परन्तु विद्वान् लोग उसी कामको करते हैं। ऐसेही हम लोगों तथा सारी प्रजाकी भलाई समझकर तू भी उद्योग कर। शम्बरासुर ने कहा है कि जब यह अवस्था होजाती है कि न आजका खाना न कलका ठिकाना तो इससे बढ़कर पाप-देशा कोई अवस्था नहीं होती। इसीसे पति-पुत्रके दुःखसे भी इसको बढ़कर कहा है और जिसे दरिद्र कहते हैं वह भी एक प्रकारका मरण है। जैसे मेरा महाकुलमें जन्म हुआ वैसेही मैं महाकुलमें ब्याही गई और सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य तथा कल्याणसे पूरित राज्य-सम्पत्तिको पाया। तुम मुझे इससमय जैसे अधिक मूल्यके रत्न-आभरण-वस्त्रों से भूषित निज जनों में प्रसन्नचित्त देखते हो उसके विपरीत मुझे और अपनी स्त्री को दुर्बल और ऐश्वर्य्य-हीन देखोगे। इससे हे संजय, तुझे अपने जीनेसे क्या सुख मिलेगा? यदि टहलुए भृत्य, आचार्य्य, पुरोहित, मंत्री आदि अपनी वृत्तिसे हीन

होजायँगे तो उन्हें देखकर तुम्हें जीनेका क्या सुख मिलेगा? मैं राजपाटकी शोभा समेत सदैवसे जैसा तुम्हें देखती थी यदि वैसा न देखूँगी, तो क्या सुख पाऊँगी—वरन् मैं प्राणों को भी तजदूँगी।

दोहा।

इस अपार दुख सिन्धुमें, उठि सुत होहु जहाज।
अरिगजगण हति सिंह सम, कुलकी राखहु लाज॥
कदराईको छोड़ि कै, करहु वीरको काम।
एक शत्रु के बध किए, होइ सूरको नाम॥
वृत्रासुरको मारि कै, इन्द्र भयो सुरराज।
तैसे तुम निज शत्रु हति, करहु अकंटक राज॥
जो रणमें निःशङ्क है, करै सत्रु संहार।
सो सुख बिलसै यस लसै, रत्न भरै भण्डार॥
स्वर्गद्वार या अमृत सम, मिलै राजपद ताहि।
वैरी गण सब अवस है, सेवहिं तन मन चाहि॥

इसप्रकार माताके कथन को सुनकर पुत्रने कहा कि बड़े आश्चर्यकी बात है कि तू मेरी माता होकर भी राज्यके लालचसे पर माताके समान मुझे युद्ध करने की शिक्षा देती है। तेरा हृदय लोहेके सदृश कैसा कठोर है। मैं तेरा अकेला प्यारा पुत्र हूँ उससे तू ऐसी वाक्य कहती है। यदि कदाचित् मैं न रहूँ तो तुझे राज्य-भोग और वस्त्राभरण आदिसे क्या सुख होगा?

माताने कहा कि हे पुत्र! विद्वानोंको धर्म और अर्थकी चिन्ता प्रत्येक अवस्थामें करनी चाहिए। इसलिए अब अर्थ-धर्म दोनोंका संयोग देखकर मैं तुझसे प्रेरणा करती हूँ कि यह युद्धका समय, जो हमारे परम्पराका धर्म है, यदि ऐसेही

बीत गया और तुमसे कुछ कार्य न बनपड़ा, तो तेरा स्वरूप श्री-हत होजायगा और तेरे तनको अपकीर्त्ति न छोड़ेगी। जिससे सामर्थ्य-हीन कारण प्रकट होता है, वह खरी वात्सल्य-प्रीति कहलाती है—अर्थात् जैसे गधी अपने बच्चोंपर प्रीति करती है। परंतु सज्जन उस मार्गको अच्छा नहीं समझते। क्योंकि मूर्ख उसका अनुसरण करते हैं। उस मार्गको तू भी छोड़दे। तुममें महाअज्ञान समाया हुआ है, जिसके कारण सारी प्रजा विकल होरही है। यदि तेरी उत्तम दशा हो तो वही मुझे प्रिय है। जो कार्य धर्म-अर्थ से युक्त और सज्जनों से प्रशंसित हो और जिसके होनेसे अपने पुत्र-पौत्रादि वंशों और प्रजाको सुख मिले ऐसे कार्य्य को त्याग कर जो लोक-परलोक-सौख्य-रहित कामको करते हैं, वह पुरुषों में अधम हैं। क्षत्रिय-जन्मकी सफलता तभी होती है जब लड़े और जीते या रण-भूमि में मृत्यु को प्राप्त हो। मृत्यु होनेमें जीवको स्वर्गवास होता है और जीत होनेमें राज्य-लक्ष्मी का सुख मिलता है। कहा भी है—

चौपाई।

आप मरे या अरिको मारे, सिंह समान पाँव नहिं टारे।
मरे लहै सुरधाम सुहावन, जीते राज-भोग मन भावन।
सूरनके दोउ लोक बनतु हैं, कादर के सब सुख बिगरत हैं।

पुत्र ने कहा कि हे माता! तू पुत्र के विषय में ऐसी बात क्यों कहती है? करुणा करके जड़ और गूँगेके समान चुप क्यों नहीं हो रहती? माता ने कहा कि मुझे इसीमें आनंद है, कि जिस बातकी तुझसे प्रेरणा करती हूँ, वही बात बारंबार कहूँ और उसके अनंतर तू संपूर्ण सैंधवों को जीतकर आवे, तो मैं तेरी प्रशंसा करूँ। पुत्रने

कहा कि सुनो, अब मैं कोश और सहायता दोनोंसे हीन हूँ। मेरी जय कैसे होगी? इस प्रकार अपनी कुदशा को मैंने हृदयमें सोच-विचार कर राज्य की आशाको उसीप्रकार छोड़ दिया है जिसप्रकार पापियोंको स्वर्गकी आशा नहीं रहती। यदि तुम्हें कोई ऐसा उपाय ज्ञात हो तो वर्णन करो। मैं तेरी सब शिक्षा मानूँगा।

माता ने कहा कि हे पुत्र! इस बातका सोच तुम न करो और ऐसा न मानो; क्योंकि वह अनित्य बात है। कितने दरिद्र देखते ही देखते श्रीमान् बन जाते हैं। कर्मके फलका कोई निश्चय नहीं है। जो लोग कर्म-फलका संकल्प-विकल्प करते हैं उनसे कोई बात नहीं बन पड़ती और वे किसी ओरके नहीं होते। जो लोग सिद्ध न होने में एक गुना और सिद्ध होनेमें दो गुने की आशा रखते हैं, वह ऋद्धि-सिद्धिको प्राप्त करते हैं। जो उत्तम कर्मके लिए उठता, जागता, उपाय और कार्य-सिद्ध होनेका दृढ़ निश्चय लाता है, उसके निकट लक्ष्मी आकर उसी प्रकार उदय होती है जैसे पूर्व दिशामें सूर्य। इससे हे पुत्र! तुम पुरुषार्थके उपाय में कुशल हो। अपने पौरुषको प्रकट करो और मैं नेत्रोंसे देखूँ। वैरी-पक्षमें जो तुमसे क्रोधित हों, जो लोभी हों, जिसके दिन टेढ़े हों, जिनका वैरियोंकी ओरसे अपमान हुआ हो या जो ईर्षा रखते हों, उन्हें तुम मिलालो। सबको आदर सम्मानसे बैठाओ; प्रिय वचन बोलो और उनका अभ्युत्थान करो तो तुम्हारे कार्य के लिए वे सब अपना प्राण तक दे देंगे। जब ऐसा प्रबन्ध बन जायगा तो उन सबको तुम्हारा शत्रु अपने वश में न कर सकेगा और तब तुम जान लेना कि उससे

लड़ाई भी न हो सकेगी। जो ऐसा हुआ तो, धनकी अधिक वृद्धि होगी और जब धन होता है तो मित्र लोग आकर सेवा करते हैं और उसके वैरीकी निन्दा करते हैं।

कहा भी है:—

दोहा।

नृपति पाय बड़ि आपदा, नहिं तनको घबराय।
वाको सोचित देखि के, सकल देस अकुलाय॥
एक सत्रुको गहत है, एक सत्रु तजि जाय।
मान और अपमान बस, वैर-हेतु अधिकाय॥
जो नर आपातिकालमें, जहाँ लखैं सुख मान।
जात ताहिके शरणमें, चितमें धरत न आन॥
सोच करतु ते सोचमें, हर्ष-बीच हर्षाहिं।
सुख पूजाको पाय सो, सकल मित्र होइजाहिं॥

इसलिए हे राजपुत्र! जो विपत्तिमें पड़े हों उनको न सताओ और न उनपर हँसो। विशेषकर दुःख के समय मित्रों का अनादर न करो। क्योंकि फिर वह आदर का स्थान ढूँढ़ेंगे। सुनो, संजय! मैंने तुम्हारे प्रभाव, बुद्धि और पौरुष जानने और तेज बढ़ाने के लिए यह शिक्षा की है। यदि तुम्हारी समझमें कुछ आया हो और इसे अच्छा जानो तो अपने कल्याणके लिए युद्धके निमित्त उठो। मेरे पास बहुतसा धनका ढेर है जिसे तुम नहीं जानते। उसके द्वारा मैं तुम्हारे दुखको दूर करूँगी और तुम्हारे कई सुमित्र ऐसे हैं जो तुम्हारे साथ सदैव से सुख-दुःखको सहते आए हैं और तुम्हारे अनुकूलवर्ती हैं। ऐसे तुम्हारे

मित्रों के बहुत सहायक हैं कि जिनको वह पालन करते हैं। इसलिए सब तुम्हारी सहायता करेंगे।

इस प्रकार माताके वचन सुनकर पुत्रने कहा कि हे माता! तू आँख होकर मुझे कल्याणकी वस्तु दिखाती है इसलिए मैं पृथ्वीको अवश्य ग्रहण करूँगा। मैं तुझसे कुछ छेड़-छेड़ कर इसलिए बोलता रहा हूँ कि तेरे उपदेश के पीने से मैं तृप्त नहीं होता था। अब मैं तेरे उपदेशसे तृप्त होकर शत्रुओंके जीतने में उद्योग करता हूँ।

दोहा।

जो अरि को रण-यज्ञ में, शस्त्र-दान नहिं देत।
सो नर दोनों कन्ध पर, दुख दुर्यश को लेत॥

उपाख्यान।

दक्षिण देशमें एक राजा, जिसका नाम रैवंत था, बड़ा धर्मिष्ठ और प्रजा-पालक था। वृद्धावस्थामें उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम एकवीर था। वह राजपुत्र बारह वर्ष की अवस्था में संपूर्ण विद्या और राज-धर्म को पढ़कर निपुण हो गया।

राजा रैवंत ने जब देखा कि पुत्र राज-काजके योग्य हो गया है तो उसे राजगद्दीपर बैठाकर आप सांसारिक कामों से अलग हो, परमेश्वरके भजनमें लीन होगए और थोड़े ही दिनोंमें परलोकगामी हुए। उसका पुत्र एकवीर थोड़ी अवस्थामें अपने राज्यको धर्म-पूर्वक चलाने लगा।

एक दिन राजपुत्र मंत्रीके पुत्रको साथ लेकर, घोड़े पर सवार हो, वनांतरमें गंगाके तट पर गया हुआ था। उस वनमें भाँति-भाँति के रमणीक वृक्ष फूले-फले शोभाय-मान थे। उन पर नाना प्रकारके पक्षी नाद कर रहे थे और

उसी वनमें अच्छे अच्छे संत-मुनि टिके हुए थे कि जिनका वेद-ध्वनि-शब्द वन भरमें पूरित हो रहा था। उसी स्थानमें गंगाके समीप कमल फूले हुए थे जिनका सुगंधित पवन मनको मस्त कर रहा था। राजपुत्र कमलोंकी शोभा देखता हुआ चला जा रहा था कि इतनेमें कमलवनके दक्षिण ओर एक सुकुमारी स्त्री रोती हुई दिखाई दी। राजकुमार ने उससे पूछा कि तू कौन है और कहाँ रहती है? किसकी पुत्री है और तुझपर क्या विपत्ति पड़ी कि, अकेली वनमें रोती है? तेरे पिता-पति कहाँ चले गए और इस स्थानमें तुझे किस बातका दुःख है? मुझसे बताओ, मैं तेरे दुःख को नाश करनेका प्रयत्न करूँ। मेरे राज्य में कोई किसीको दुःख नहीं देता; न किसीको चोर या राक्षस का भय है; न किसी प्रकार का उत्पात होता है और न किसीको बाघ या सिंह सताता है। तुझे रोती हुई देखकर मुझे बड़ा क्लेश हुआ है क्योंकि इस स्थान का राजा मैं हूँ और तुझे क्लेश हुआ तो मेरे लिए अच्छा नहीं। जैसा कि शास्त्रमें लिखा है—

चौपाई।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी; सो नृप अवसि नरक अधिकारी।

मेरा यही व्रत और नियम है कि दुःखियों के दुःख को मिटाऊँ। इसलिए, तेरे अंतःकरणमें जिस बात के लिए खेद हो, उसे बताओ। जैसा तेरा मनोरथ होगा, मैं वैसाही यत्न करूँगा। इस प्रकार राजाके प्रश्नको सुनकर वह स्त्री बोली कि सुनिए, पृथ्वीनाथ! मैं अपने शोक का कारण कहती हूँ। संसारमें विना विपत्ति कोई नहीं रोता। मेरी विपत्ति की दशा इस प्रकार है कि, आपके राज्यके आगे एक

राजा रैभ्य परमधार्मिक है। उसकी रानी सब लक्षण से लक्षित और परम सुंदरी है। परन्तु पुत्रके विना राजा-रानीको बड़ा दुःख था। इसलिए राजाने कई यज्ञ किए। तब परमेश्वरने प्रसन्न होकर एक कन्या दी, जिसके अंगकी सुन्दरता और सुलक्षणता मुझसे कही नहीं जाती। बिम्बाफलके समान लाल होंठ, कुन्द-कली के समान दंत-पंक्ति, पूर्णिमाके चाँदके समान मुख, सुनहरे रंगके समान गाल, रतनारे नयन, लाल-लाल हथेलियाँ तथा पगतलियाँ और उसमें जितने शुभ लक्षण और गुण हैं, उनको मैं वर्णन नहीं कर सकती। उस कन्या के होने से राजा-रानीको पुत्र-जन्मसे भी अधिक आनन्द हुआ और बहुतसा दान-पुण्य किया।

मैं राजाके मंत्रीकी कन्या हूँ। मेरा नाम यशोवती है। राज-पुत्रीकी अवस्था और मेरी एकसी है। इसलिए राजा ने मुझे राजपुत्रीके साथ कर दिया कि दोनों एक संग खेला करें। तबसे मैं उसके साथ सदा खेला करती थी और उसका मेरा परस्पर बड़ा प्रेम हो गया। उस एकावली राजपुत्रीकी यह व्यवस्था होगई कि जहाँ सुगंधित कमल के फूलोंको देखती वहीं सुखसे रहती और दूसरे स्थानमें सुख न पाती। इससे बहुत दूर गंगाके तटपर एक कमल-सरोवर है फूल फूले हैं, वहीं सखियों समेत राजपुत्री रहा करती थी।

एक दिन राजपुत्रीकी माताने उसका हाथ पकड़कर मुझे सौंप दिया, कि यह तेरे आधीन है। मैं इसीलिए किसी समय उसका साथ न छोड़ती थी। बहुत दूर और वनांतर में आनेसे राजाने निषेध किया और अपनी राज-धानीके जलाशयोंमें कमल लगवा दिए कि जिससे राजपुत्री

वहीं रहा करे। परन्तु एकावली राजकन्याका चित्त वहाँ पर प्रसन्न न रहता था। इसलिए राजकन्या उसी गंगा-तटके स्थानमें फिर जाने लगी। यह देखकर राजाने बहुत से हथियारबन्द रक्षक उसके साथ कर दिए। उस दिन से उसका यह अभ्यास पड़ गया कि नित्य कमल-वनमें जाकर चित्तको प्रसन्नकर राजधानी को लौट जाया करती।

एक दिनका वृत्तान्त यह है कि प्रातःकाल उठकर सखियों समेत कमल-वन में भ्रमण करने चली। चारों ओरसे हथियारबंद रक्षक संनद्ध थे और राजपुत्री पर राज्य-श्री के साथ चँवर डुलता हुआ चलता था। गंगातट पर पहुँचकर राजपुत्री कमलवनमें मेरे साथ क्रीड़ा करने लगी। उसीसमय कालकेतु नामक एक दानव अनेक राक्षसों के साथ वहाँ पहुँच गया। उसके सब साथी हथियार-बंद थे। मैंने राजपुत्रीसे कहा कि यह कोई दैत्य आगया है। चलो अपने रक्षपालोंके बीचमें होजायँ। यह कहकर मैं राजपुत्रीको लेकर रक्षपालों के बीच में चली गई। परन्तु कालकेतु राजपुत्रीकी सुन्दरता देख मोहित हुआ और हाथमें भारी गदा लेकर दौड़ा। हमारे सिपाहियोंको हटा दिया। उसको देखकर मारे डरके राजपुत्री काँपने लगी। तब मैंने कालकेतुसे कहा कि आप मुझे ले चलें और इसे छोड़ दें। परन्तु वह उसीको लेकर निकल गया। जब हमारे साथी योद्धा दौड़ तो उसके सब साथी लड़ने लगे और उस समय बड़ी लड़ाई हुई। राक्षसों ने हमारे साथी रक्षपालोंको मारकर गिरा दिया और वे भी कुछ मारे गए। जब वह राजपुत्री को लेकर अपने नगरको चला मैंने देखा कि राजपुत्री रोती हुई परवश में

रथ पर बैठी चली जाती थी। मैं भी उसके पीछे पीछे बड़ी दूर तक चली गई। जब उसने मुझे देखा तो कुछ सचेत-सी हो गई। जब मैं पास पहुँची तब मेरा कंठ पकड़कर रोने और हाय-हाय करने लगी। उस समय कालकेतु मुझ से प्रीतिपूर्वक बोला कि हे सखी! तू राजपुत्रीको समझा दे। क्यों डरती है? इसे मेरे नगरमें, जो स्वर्गसे भी उत्तम है, किसी प्रकारका भय नहीं है और इसका तो मैं ही सेवक हूँ। यह किस लिए सोच करती है? इतना कहकर राजपुत्रीको सखियों समेत एक निराले मंदिर में टिका दिया और चारों ओर से कई सहस्र सेना की चौकी बैठा दी। और आप अपने राजमहलमें चला गया।

दूसरे दिन आकर मुझसे एकान्तमें कहने लगा कि हे सखी! तू राजपुत्रीको समझा दे कि वह विरह और सोचमें क्यों पड़ी है। ऐसे महाराजकी पत्नी होकर अनेक सुखोंको भोग करे। मैंने कहा कि महाराज, यह बात मुझसे कही नहीं जायगी। यह आप ही कहिए। यह सुन कर उस दुष्ट दैत्यने हाथ जोड़कर राजपुत्रीसे अपना मनोरथ कहा कि तुम हमारी स्त्री होकर हमारे जन्मको सफल करो। जब इसी प्रकारकी उसने बहुतसी बातें कहीं तो एकावली राजपुत्री बोली कि, हमारे पिता पूर्व ही यह कह चुके हैं कि इस कन्या का ब्याह हैहय नामी राजा एकवीर के साथ करेंगे और यह बात सनातन से चली आई है, कि जिसको पिता प्रसन्नतासे कन्या दे, वही उसका पति होता है। इस लिए मैं क्योंकर कन्या का धर्म छोड़ सकती हूँ। क्योंकि कन्या कभी

स्वाधीन नहीं रहती। राजपुत्रीका यह वचन सुनकर वह अपने राजमहलको चला गया। वह मेरी प्यारी सखी उसी दुर्गमें अनेक सखियों-समेत बन्द है। मैं उसी के विरह में घूमती हूँ।

राजा ने कहा कि हे सखी! मुझे दो संदेह होते हैं। एक यह कि तू अपनी प्राणप्यारी सखी को छोड़कर क्यों चली आई है? दूसरे जिस राजा का तू नाम लेती है कि राजपुत्रीने उसे पति माना है, वह हैहय नामी एकवीर राजा मैं ही हूँ। कहो, ऐसा संयोग क्यों हुआ? यदि ठीक-ठीक यही बात है तो मैं भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि उस दुष्ट दानवको मारकर उसे बंदीगृहसे छुड़ा लाऊँगा।

यशोवती बोली कि महीनाथ! मुझे बाल्यावस्थामें एक तपस्वीने प्रसन्न होकर एक मंत्र बताया था और कहा था कि जब कोई तुझे संकट पड़े तो मंत्र पढ़कर परमेश्वर का ध्यान करना तुझे उसके उद्धारका उपाय स्वप्नमें विदित हो जायगा। इससे महाराज, मैं उस रातको बड़ी ग्लानि में थी। मंत्र पढ़कर परमेश्वरका ध्यान किया। जब आँख लग गई तब मुझे यह उपदेश हुआ कि तू गंगातट पर जाकर बैठ। वहाँ एकवीर राजा आकर तुझे मिलेंगे। तू उनसे अपना वृत्तान्त कहना। वह राजा शरणागत वत्सल है। तेरे शत्रुको मारकर दुःख दूर करेगा। इसके अनन्तर जब मेरी आँख खुल गई तब स्वप्नका वृत्तान्त राजपुत्री को सुनाया। राजपुत्रीने मुझे आज्ञा दी कि तू शीघ्र उस स्थानको जा। इससे महाराज, जैसा पथ स्वप्न में दिखाई दिया था, उसी मार्ग होकर मैं यहाँ ठीक-ठीक आपहुँची हूँ और आपके चरणारविन्द का दर्शन भी

हुआ। मैंने जो वृत्तान्त ठीक-ठीक था, वह आपसे कह दिया। अब आप भी यथार्थ कहिए कि आप किसके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है? राजाने कहा कि मैंने पहिले ही यथार्थ कह दिया है कि मैं हैहयवंशी एकवीर नाम राजा हूँ राजपुत्रीका दुःख सुनकर मेरे अंतःकरणमें बड़ा खेद हुआ।

इसके अनंतर राजाने मंत्रीके पुत्रसे एकान्तमें जाकर पूँछा कि इसके विषय में तुम्हारी सम्मति क्या है? यह स्त्री जो बात कहती है, ठीक जान पड़ती है या इसमें कुछ छल सूचित होता है? यदि इसकी बात ठीक है, तो हमको क्या करना चाहिए? मंत्रीके पुत्रने कहा कि पृथ्वीनाथ! अनुमानसे इसका वचन ठीक जान पड़ता है। परंतु स्त्री विश्वासका पात्र नहीं होती; यह नीतिमें लिखा है और विना विश्वास संसारका काम नहीं चलता। इसलिए बुद्धिमान् लोग परीक्षाके द्वारा काम करते हैं। इससे आप इसकी परीक्षा कर लीजिए। यदि परीक्षा करनेसे किसी प्रकारका छल-छिद्र न पाया जाय, तो यह काम करनेके योग्य है। क्योंकि इसमें कई गुण हैं और राजाको चाहिए कि जिस कामको करने लगे, उसके गुण और दोषोंपर विचार करले। यदि गुण अधिक हों, तो करे; और अवगुण अधिक हों, तो उसको छोड़ दे। इस कार्यमें गुण बहुत हैं। एक यह कि जबसे आप राज्य पर बैठे हैं, तबसे कोई युद्ध करनेका संयोग नहीं पड़ा और न कोई नवीन देश आपने जीता। यह राजाओंका परमधर्म है कि सदैव राज्यकी वृद्धि करते रहें और देशके बढ़ानेमें संतोष न करें। यद्यपि आपका राज्य बहुत विस्तीर्ण है और सब राजा आज्ञाकारी हैं, परंतु कालकेतु

तामसी प्रकृतिका मनुष्य है और दैत्यकुलमें उत्पन्न हुआ है। वह हमारे राज्यसे वैरभाव रखता है। इससे उसके मान-ध्वंस करनेका यह बहुत उचित अवसर है। क्योंकि शत्रुका मान तोड़े बिना अपनी श्री नहीं बढ़ती। कहा भी है कि—

श्लोक।

समूलघातमघ्नंतः परान्नोद्यंति मानिनः।
प्रध्वंसितांधतमसस्तत्रोदाहरणं रवेः॥

जैसे सूर्यदेव जब सब अंधेरेको नष्ट कर लेते हैं तब उदय होते हैं; वैसेही मनुष्य जब तक अपने सारे वैरियोंको मार नहीं लेता, तब तक उसका विभव नहीं बढ़ता।

दोहा।

शत्रु दहे बिनु वीर नर, उत्तम यश न लहात।
कीच किए बिनु धूरिको, नहीं नीर ठहरात॥

वैरीको वशमें लानेके छः उपाय हैं—सन्धि अर्थात् मिलाप, विग्रह अर्थात् लड़ाई, यान अर्थात् वैरीके ऊपर चढ़ाई करना, आसन अर्थात् चुपके रहना, द्वैधीभाव अर्थात् एक वैरीको साथ मिलाकर दूसरे वैरीको मारना और आश्रय अर्थात् वैरीके वशमें रहना। यह राजनीतिके जाननेवालोंका मत है, कि जहाँ तक बन पड़े मिलापसे काम निकाले। परंतु लड़नेसे कीर्ति अधिक होती है। इससे अब आपको उचित है, कि कालकेतुको रणभूमिमें जीतकर अपनी कीर्तिको बढ़ाइए और राजपुत्रीको छुड़ाइए। क्योंकि जैसा राजाको होना चाहिए वैसेही आप हैं। राजनीति में भी लिखा है।

श्लोक ।

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यंगो, धनसंवृत्तकंचुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः, पुरुषः कोपि पार्थिवः ॥

जिसके बुद्धि-रूपी हथियार हो, मित्र-रूपी मंत्री, देश-रूपी कोष तथा सेना, शरीर-रूपी गढ़ हो, मंत्र-गोपन-रूपी कवच, भेदिहा-रूपी आँखें, और दूत-रूपी मुख हों, वही राजा कहाता है । ये सब गुण आपमें हैं । इसलिए मैं अपनी सम्मति प्रकट करता हूँ कि आप शीघ्र लड़ाईकी सामग्री कीजिए । इस प्रकार मंत्री-पुत्रकी बात सुनकर राजाने कहा कि आपने इस सखी की बातकी सच्चाई की जो परीक्षा करलेनेके लिए कहा है वह किस प्रकार कीजाय ?

मंत्रीके पुत्रने कहा कि परीक्षाके लिए तो सीधा उपाय यह है कि उसने कहा है कि उसे मंत्रके बलसे सम्पूर्ण वृत्तान्त विदित हुआ । अतः यदि वह आपको मंत्र बतला दे और उसके पढ़नेसे आपको सब वृत्त ज्ञात होजाय तो समझ लीजिए कि सच्ची और निष्कपट है और इससे आपको एक अनुभव चमत्कार भी मिलजायगा । यह बात राजाको बहुत प्रिय लगी और मंत्रीके पुत्र तथा यशोवती समेत वह अपनी राजधानीको चले गए । वहाँ जाकर राजाने यशोवती से कहा कि हे सखी ! तेरा दुःख देख और तेरी राजपुत्रीका बंधन सुनकर मुझे बड़ा खेद है ; परन्तु वह स्थान मेरा देखा नहीं और न कालकेतुका बल-पौरुष विदित है । जैसा तुमने मन्त्रबलसे मेरा वृत्तान्त जान लिया है वैसाही यदि मुझे विदित होजाता तो मैं उसी प्रकार प्रबन्ध करके यहाँसे यात्रा

करता। यह बात सुनकर यशोवतीने कहा कि महाराज वह परम दुर्लभ मन्त्र, जो मुझे स्वामी दत्तात्रेयसे मिला है, मैं आपको बताए देती हूँ। आप उसका विधि-पूर्वक जाप करिए उससे सम्पूर्ण मार्ग, वैरीका कोट तथा सेना का हाल ज्ञात हो जायगा। वैरी आपको स्वप्न में दिखाई पड़ेगा और जो कुछ होना होगा वह भी विदित हो जायगा।

निदान जब राजाने विधि-पूर्वक उसका जप किया तो रातको स्वप्नमें अपने स्थानसे वहाँ तकका मार्ग, कोट और शत्रुकी सेना सब दिखाई पड़ी। स्वप्नमें किसी स्वर्ग-दूतने यह भी कह दिया कि आपकी शीघ्र विजय होगी। जब राजा सोकर उठा तो मंत्रीके पुत्रसे सब वृत्तान्त वर्णनकर चतुरंगिणी सेना समेत यशोवतीको साथ लेकर कालकेतुके नगरकी यात्रा की। जब वह नगर थोड़ी दूर रहगया, तब उस राजधानीके दूतोंने राजा एकवीरको सेना समेत देख और भयसे विकल हो अपने राजा काल-केतुके पास गए।

उस समय कालकेतु एकावली राजपुत्रीको हाथ जोड़-कर समझा रहा था। दूतोंने कहा कि महीनाथ, इसकी सखी यशोवती जो यहाँसे चलीगई थी, वीरपुरुषके साथ चतुरंगिणी सेना-समेत आती है। उस वीरपुरुषका तेज सूर्यकी नाईं प्रकाशित है। आप राज-पुत्रीका स्नेह छोड़कर युद्धका साज साजिए। अभी वह सेना यहाँसे बारह कोस पर है।

इसप्रकार दूतों की बात सुनकर कालकेतु ने एकावली राजपुत्रीसे कहा कि कहो, यह कौन सेना समेत आता

है, यदि तुम्हारा पिता आता होगा तो मैं उससे युद्ध न करूँगा ; वरन् शिष्टाचारसे मिलूँगा। यदि दूसरा कोई होगा, तो उसको विना मारे न छोड़ूँगा। राजपुत्री बोली कि मैं तो तुम्हारे बन्धन में पड़ी हूँ। मुझे क्या मालूम कि कौन आता है? इसके पीछे सेना सजाके कालकेतु युद्धके लिए सन्नद्ध हुआ। जब राजाकी सेना नगरके निकट आगई, तो दूतोंने कहा कि वैरीकी सेना पास पहुँच गई। तब तो कालकेतु राक्षसों समेत नगरसे बाहर निकला और बड़ी घोर लड़ाई हुई। अन्त में राजा एकवीर ने कालकेतु के ऐसी गदा मारी कि वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और निष्प्राण होगया। फिर जितने राक्षस बचे वे सब भाग गए। तब सखी यशोवती एकावलीके पास जाकर बोली कि महाराजा एकवीरने घोर युद्ध करके दुष्ट कालकेतुको मारकर तुम्हारे देखने के लिए सेना समेत खड़े हैं। तुमने प्रथमहीसे उनमें पतिभाव मान रक्खा है, सो चलकर परस्पर अवलोकन कीजिए। राजपुत्री ने कहा कि वास्तव में मैं महाराज को पतिभाव करके जानती हूँ और मेरे पिताका भी यही संकल्प है। परंतु अभी मैं कुमारी और कन्याभाव को प्राप्त हूँ; अतः विना पिता की आज्ञा मुझे राजपुत्रसे मिलना अनुचित है। इसलिए राजपुत्रको समझा दो कि थोड़ी धीरताको धारण करके मुझे पिताके निकट पहुँचा दें। फिर विहित विधिसे मुझे ग्रहण करें।

यशोवतीने यह बात राजपुत्रसे कही और कहा कि हे पृथ्वीनाथ! राजपुत्री आपके आधीन हो चुकी। परंतु उचित यह जान पड़ता है कि प्रथम राजपुत्रीको इसके

पिताके निकट पहुँचा दीजिए। फिर विधिपूर्वक विवाह करके ग्रहण कीजिए। इस बातको यथोचित समझ राजाने अंगीकार किया। इसके अनन्तर, उस नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जिसका जी चाहे वह महाराजसे भेंट कर सकता है। किसी प्रकारका भय नहीं है। राजाकी यह आज्ञा सुनकर वहाँ के मन्त्री और प्रधान लोग कालकेतु के पुत्रको आगे करके और भाँति-भाँति के अनमोल मणि-रत्न भेंटकी भाँति सुवर्णकी थालियोंमें रखवाकर राजा एकवीरके शरणमें गए। लड़केने राजाको प्रणामकर सम्पूर्ण भेंट आगे रख दिया और राजाने उस बालकको अपने अंकमें बैठाकर कहा कि हे पुत्र! तुम अभय रहो, और तुमको इस राज्यका राजा बनाते हैं। परंतु नीति और धर्म-राज्य करते हुए हमारी आज्ञाका प्रतिपालन करना और आजसे राक्षसी प्रकृतिको छोड़ दो। यह बात सुन-कर मंत्रियोंने कहा कि महाराज यह लड़का चाहता है कि आप राजमंदिर तक चलकर अपने करकमल से गद्दी पर बैठा दें और जैसी शिक्षा दें वही काम कियाजाय। राजाने यह बात सुनकर स्वयम् उस बालकको लेजाकर राजगद्दी पर बैठा दिया और अच्छे-अच्छे राजनीति और धर्म-शास्त्रके जाननेवाले मंत्रियोंको राजकाज सौंप, राजपुत्री और यशोवती आदि सब सखियोंको पालकी पर चढ़ाकर, विजयका डंका बजाते हुए, सेना-समेत रैभ्य के नगर की यात्रा की और कुछ कालके बाद वहाँ पहुँच गए। राजा रैभ्यको बुलाकर उसे राजपुत्रीको सौंप दिया और यशो-वतीने सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। राजा रैभ्यने मंत्रियों-समेत एकवीर राजाके पौरुष और वीरताकी प्रशंसा की और

उपकार के लिए धन्यवाद करके, अपनेको कृतार्थ माना। फिर शुभ मुहूर्त्त में एकवीर राजपुत्र के साथ एकावली राजपुत्री का विवाह कर यशोवती सखी के साथ अनेक प्रकार का दहेज़ देकर अपनी राजपुत्रीको बिदा किया।

राजा एकवीर एकावली राजपुत्रीको पाकर बहुत हर्षित हुआ। तबसे एकवीरकी राज्यश्री दिन-प्रति-दिन बढ़ती गई और सम्पूर्ण देश उसके अधीन होगया। राजा एकवीरका पुत्र कृतवीर्य हुआ। उसने भी अपने पिताके समान राज्य किया। कृतवीर्यका पुत्र कार्तवीर्यार्जुन चक्रवर्ती राजा हुआ, जिसने लङ्काके राजा रावणको भी बाँध लिया था और पुलस्त्य मुनिके कहनेसे छोड़ दिया।

षष्ठ तरङ्ग।

यथार्थ निर्णय और न्याय।

सौराष्ट्र देशमें नीतिपाल नामका एक राजा था। वह चौदह-विद्या-निधान, राजनीतिमें निपुण, प्रजाको पुत्र के समान पालता, गुणियोंका गुण जानता, सबका यथोचित सन्मान करता, दुष्ट-दुराचारियों को यथोचित दण्ड देता और न्यायकार्यमें हंसके समान विचक्षण था।

उसकी राज्यमें मर्य्यादा या आचारके विरुद्ध कोई कर्म होने न पाता। पुत्र पिताकी सेवा, स्त्री पतिकी सेवा, सेवक स्वामी की सेवा और आज्ञा पालनमें श्रद्धा-भक्ति-समेत तत्पर रहते। उच्चवर्गवाले जैसे नीचवर्गवालोंको अपना सेवक समझ करके प्यार करते, वैसेही नीचवर्गवाले मनुष्य भी उच्चवर्गवालोंको अपना सेव्य और स्वामी समझकर मान रखते तथा मर्यादापूर्वक उनसे डरते थे। बहुधा किसीके मुखसे अप्रिय या असत्य वचन न निकलता और यदि किसीसे संयोगात् ऐसा हो भी जाता, तो न्यायसभासे दंड पाता। यदि किसीका धन चोरी जाता तो वह उतना धन उसी समय राजाके कोष से पाता और चोरोंको अनेक-अनेक उपायसे कठिन दंड दिया जाता। ऐसाही व्यभिचार-कर्ममें भी कठिन दंड नियत था। इसी कारण चोरी और व्यभिचारका कहीं नाम भी न था।

उसने अपने राज्यके सब विभागोंमें न्याय सभायें नियत करदी थीं और सबके ऊपर राजधानीमें राजाकी मुख्य सर्वोपरि न्याय-सभा थी। उसमें राजा दो प्रकार से न्याय

करता था। एक तो खुली कचहरीमें व्यवस्थानुसार सबका निवेदन सुनता और दूसरी न्यायसभा एक पुष्पवाटिकामें होती। वहाँ राजा अकेला बैठकर अकेले प्रार्थकको बुलाकर उसकी बात सुनता और सुख-दुःख पूछता तथा न्याय भी छिपकर करता। इसीसे उसका नाम एकांतसभा रक्खा गया था। परंतु उसमें राजाकी यह आज्ञा थी, कि जिसके पास पत्र वा साक्षी आदि पुष्ट प्रमाण विद्यमान हों, वह खुली कचहरीमें अपना कार्य प्रवेशित करे। इसलिए ऐसाही होता—जो प्रार्थक अपने पास प्रमाण रखते थे, वे खुली कचहरी में जाते और जो सब प्रकारसे अशक्त होते वे एकांत सभामें जाकर राजाको अपना दुःख सुनाते।

उक्त महाराज की ऐसी दैवी-बुद्धि और समझ थी कि वे तुरन्त कार्यकी सच्ची और झूठी बातको जान जाते। लेकिन कार्यकी वास्तविक व्यवस्था के विदित होनेका कारण, दैवीबुद्धिके सिवाय, यह भी था, कि राजाके ऐसे-ऐसे गुप्त भेदिये और चतुर चार नियत थे, कि वे क्षण-क्षण का ठीक-ठीक वृत्तान्त राजाको देते थे। उन चारों (भेदियों) को राजा अपने हाथसे वेतन देता और उनको कोई जानता न था कि ये महाराजके भृत्य हैं। वे भेदिये भी आपसमें एक-दूसरे को न जानते और ऐसेही राजाकी आज्ञा प्रत्येक भेदिये को थी, कि यदि तेरा भेद और कोई जानेगा, तो तुझे प्राणदण्ड होगा। इसलिए वे लोग अपनेको अनेक भेषोंमें छिपाए रहते—कोई योगी-वैरागी बना रहता, कोई बहुरूपिया, कोई गानेवाला, कोई पण्डित, कोई कवि और कोई व्यापारी बने फिरते।

वे गाँजा, भाँग आदि ऐसी ऐसी वस्तुएँ बेचते, कि जिनके लेनेके लिए बहुतसे लोग आते हैं।

इसी प्रकार राजाको अपने देशकी व्यवस्था क्षण-क्षण भरकी विदित होती। राजा नीतिपाल का यह प्रण था, कि हमारे राज्यमें कोई मनुष्य अन्याय से पीड़ा न पावे। इससे राजा स्वयं भेष बनाकर घूमा करता और उसका मन रात-दिन यथार्थ न्याय होनेमें बसता।

एक दिन राजा पुष्पवाटिकाकी नीतिसभामें विराजमान होकर प्रार्थकोंका निवेदन सुन रहा था। उसी समय एक दरिद्र क्षेमशर्मा ब्राह्मणने जाकर दुहाई दी और कहा, कि पृथ्वीनाथकी जय रहे। मैं न्यायका याचक आपकी शरणमें आया हूँ। मैं अन्यायरूपी तापसे तप्त हूँ और मुझे न्याय-रूपी जलसे शीतल कीजिए। राजाने पूछा कि तुम्हारा क्या मतलब है? क्षेमशर्मा ने कहा कि, महीनाथ! मेरी संकल्पकी भूमि गाँवके ठाकुरोंने छीन ली और जो मेरे पास खेतका दानपत्र था उसको भी मुझसे लेकर आगमें जला दिया। अब मैं वृत्ति-हीन होकर भूखों मरता हूँ। राजाने पूछा कि क्या तुम ने हमारी न्यायसभा में प्रार्थना नहीं की? क्षेमशर्माने कहा कि, दीनबंधु! मैं उस न्यायसभामें निवेदन कर चुका हूँ। पत्र और साक्षी आदि प्रमाणोंके न होने के कारण वहाँसे हार बैठा। केवल वही धरती हमारी जीविका थी। उसीसे कुटुम्बका पालन-पोषण होता था। इसलिए अब उसके छिनजानेसे सब भूखों मरते हैं। राजाने उसका नाम-गाँव सब लिख लिया और कहा कि तुम जाओ और कुछ दिन तक उस खेतकी मेड़ोंपर नित्य

जाना और दुहाई-तिहाईकी बातें किया करना। किसी समयमें तुम्हारा न्याय होजायगा। परंतु हमारे पास आनेका वृत्तान्त अपने घरमें भी किसीसे न कहना।

निदान क्षेमशर्मा वहाँसे बिदा होकर अपने घर आया और नित्य खेत पर जाकर रोया-गाया करता तथा ठाकुरोंको बुरा-भला कहता। कुछ दिन बाद राजा नीतिपाल देशाटन करता और राज्याधिकारियोंको शिक्षा देता हुआ, उस स्थान पर पहुँचा, जिससे थोड़ी ही दूरपर क्षेमशर्माकी छिनी हुई धरती थी। वहीं राजाकी सेना उतरी और राजा का डेरा पड़गया। रातके समय राजाने क्षेमशर्माके खेतको देखलिया।

एक दिन राजा घोड़े पर चढ़कर उसी खेतपर होकर अहेर खेलनेको गया। जब वहाँसे लौटा, तो उस खेतपर खड़ा होकर राजाने साथियोंसे कहा, कि इसी खेतमें हमारी एक बड़े दामकी वस्तु खो गई है, उसकी खोज कराओ। इतना कहकर राजा तो अपनी सेनामें चला गया। जो कुछ प्यादे रह गये थे, उन्होंने गाँवके ठाकुरोंको बुलाकर खोज कराया। परन्तु उसमें कोई वस्तु न मिली। तब प्यादोंने जाकर राजासे कहा कि महाराज आपकी वस्तु नहीं मिली। राजाने आज्ञादी कि वह वस्तु उसी खेतमें गिरी है, जिसका खेत होगा उसीने अवश्य पाई होगी। इस लिए वहाँके लोगोंको सूचना दीजाय, कि यदि तीन दिनमें हमारी वस्तु लाकर न देंगे, तो गाँव छीन लिया जायगा और खेतका स्वामी, जो उस खेतपर बहुधा रहता हो, जन्मभरके लिए क़ैद में डाला जायगा।

इस आज्ञाके निकलने पर ठाकुरोंने बहुत खोज किया,

परन्तु वह वस्तु न मिली। अन्तमें सब एकत्रित होकर सम्मत करनेलगे, कि गाँव भी छिन जायगा और जन्मभर बँधुआई करनी पड़ेगी। उसमें एकने कहा कि मेरी यह राय है कि क्षेमशर्मा रात दिन उन खेतों में इधर-उधर घूमता रहता है और सबको बुरा भला सुनाता तथा शाप दिया करता है। इसलिए उसीका नाम लिखकर इस आशय से एक निवेदनपत्र प्रवेशित करें, कि क्षेमशर्म्माकी यह धरती है और वह रात दिन उस खेतमें रहा करता है, उसीने पाई होगी। जब वह माँगने पर राजा की वस्तु न देसकेगा, तो जन्मभर के लिए कुटुम्ब-समेत क़ैद में पड़ेगा और विना औषधि हमलोगों की व्याधि छूट जायगी तथा हमारा गाँव भी बच जायगा। यह बात सुनकर जितने मनुष्य उससमय उपस्थित थे, सब कहने लगे, कि भाई, तुमने बहुत अच्छा उपाय विचारा है। इसमें दो बातें अच्छी हैं एक तो वह ब्राह्मण नित्य हमारी मृत्यु मनाया करता है, विना परिश्रम बाँधा जायगा और दूसरे हमारा गाँव-देश बच जायगा।

इसप्रकार सब ठाकुरोंने सोच-विचार कर उसी आशय का निवेदनपत्र महाराज के सम्मुख प्रवेश किया और कहा, कि पृथ्वीनाथ! हम लोगोंने बहुत खोज किया, परन्तु वह वस्तु नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि, वह धरती क्षेमशर्मा ब्राह्मणको संकल्पित है और वह रात-दिन उसी खेतमें रहा करता है। इससे जानपड़ता है कि, उसीके हाथ लग गई। इसलिए यह प्रार्थना करते हैं कि हमलोग छोड़दिए जायँ और उसी से वह वस्तु माँगी जाय तो अवश्य मिलेगी। राजाने कहा कि बहुत अच्छा, तुम

सब इस प्रार्थनापत्र पर हस्ताक्षर करके अपने घर जाओ और उस ब्राह्मणको पकड़ कर भेज दो, तो तुम्हारा जी छूट जायगा।

इसके अनन्तर ठाकुरो ने क्षेमशर्म्मा को पकड़ कर राजा के पास भेज दिया। तब राजाने आज्ञा दी कि इसको पहरे में रक्खो और दूसरे दिन कचहरी में लाना। उसी रात को राजाने क्षेमशर्म्मा को एक हीरे से जड़ीहुई अंगूठी दी और समझा दिया, कि तुम कचहरीमें यह कहना कि मुझे सात दिन की छुट्टी मिले तो मैं वह वस्तु खोज कर ला दूँगा और सात दिन पीछे यह अंगूठी खुली कचहरी में हमको देना।

राजा ने दूसरे दिन क्षेमशर्म्मा को खुली कचहरी में बुलवा कर पूछा कि जिस खेत में हमारी वस्तु खोगई है वह तुम्हारा है? क्षेमशर्म्मा ने कहा कि हाँ पृथ्वीनाथ! मेरा खेत है। राजाने कहा कि तुम्हारे गाँवके ठाकुर कहते हैं कि तुमने हमारी वस्तु पाई है। यदि तुम अपनी भलाई चाहो तो वह वस्तु लाकर दो। नहीं तो, तुमको जन्मभर बंदीगृह में परिवार-समेत रहना होगा। क्षेमशर्म्मा ने कहा कि पृथ्वीनाथ! मुझे वह वस्तु नहीं मिली। परंतु मुझे सात दिनका अवकाश मिले, तो मैं ढूँढ़ कर अपने प्रभुकी वस्तु अवश्य दूँगा।

राजाने उस गाँवके ठाकुरोंको बुलाकर कहा कि इसको सात दिन की छुट्टी दीजाती है और तुमको आज्ञा होती है कि तुमलोग चौकसीसे इसको देखते रहना। यह कहीं भागने न पावे। क्योंकि वह हमारी अनमोल वस्तु है। ऐसा न हो, कि यह लेकर दूसरे देशान्तर में चलाजाय।

यदि सात दिनमें कहीं भाग जायगा, तो तुमको कठिन दण्ड होगा। इसलिए तुम इसे सातवें दिन हमारे सम्मुख लाना। फिर तुमसे कुछ प्रयोजन नहीं। राजाकी आज्ञा पाकर ठाकुरों ने क्षेमशर्म्मा के ताकने के लिए अपने कई आदमी नियत करदिए कि वह घर और खेत छोड़ कर कहीं जाने न पावे। इसलिए उसके साथ-साथ आदमी रात-दिन लगे रहते थे और सातवें दिन उसको पकड़ कर फिर राजा के सम्मुख लेगए।

राजा ने पूछा कि हमारी वस्तु मिली? क्षेमशर्म्मा ने कहा कि, पृथ्वीनाथ! मैंने बहुत खोज की परन्तु वह वस्तु नहीं मिलती। केवल एक छोटीसी अँगूठी मिली है। राजा ने अँगूठी को ले लिया और कहा कि, हमारी वस्तु यही है; और यह आज्ञा लिखवादी कि हमारी जो वस्तु क्षेम-शर्म्मा ब्राह्मण के खेतमें खोगई थी उसे उसने सात दिन में खोज कर ला दिया है। इसलिए वह छोड़ दिया जावें और उसके परिश्रम के पलटे पाँचसौ रुपया पारितोषिक की भाँति दिया जाय। अतः राजाकी आज्ञानुसार पाँच सौ रुपया दिए गए। रातके समय राजा ने उससे कह दिया, कि इस कार्यके पत्रोंकी प्रति सभासे लिखवाकर अपने घर जाओ। आगे यदि तुझे खेत जोतने में कोई ठाकुर निषेध करें तो इसी पत्रके प्रमाणसे इस स्थानके न्यायाधीशसे निवेदन करना, तो वह तुम्हारा खेत तुम्हींको देगा। निदान दूसरे दिन क्षेमशर्म्माने यह प्रार्थना की कि जो मेरे गाँव के ठाकुरोंने निवेदनपत्र प्रेषित किया है और जो मेरे छूटने और पारितोषिक मिलने की आज्ञा हुई है इन पत्रों की प्रति मुझे रीत्यनुसार राजमुद्रासे मुद्रित होकर मिलना

चाहिए। अतः रीत्यनुसार उसे सम्पूर्ण कार्य-प्रवृत्तिके संबन्धित पत्रों की प्रतियाँ राजा के हस्ताक्षर और मुद्राङ्क से मुद्रित होकर मिलीं और वह राजाको आशीर्वाद देकर अपने घरको चला गया।

राजा नीतिपालने भी उसीदिन सेना समेत अपनी राजधानीकी यात्रा की। जब क्षेमशर्म्मा खेतको जोतने बोने लगा तब ठाकुरोंने रोका। तब क्षेमशर्म्माने कहा कि जब तक राजसभासे आज्ञा न होगी तबतक हम तुम्हारा कहा न मानेंगे। निदान ठाकुरोंने न्यायाधीशकी सभामें प्रार्थना की, कि क्षेमशर्म्मा ब्राह्मण, जो पहले इस कचहरी से हार चुका है बलात् खेतको जोतता है।

न्यायाधीशने क्षेमशर्म्मा को बुलाकर पूछा कि तुम अनुचित रीतिसे दूसरेका खेत क्यों जोतते हो? उसने कहा कि हमारा खेत है, हम जोतते हैं। न्यायाधीशने कहा तुम्हारे पास कोई प्रमाणपत्र भी है? क्षेमशर्म्मा ने उस राजमुद्राङ्कित पत्रको न्यायाधीशके सम्मुख रखदिया और न्यायाधीशने उसको पढ़कर ठाकुरोंसे कहा कि तुमलोग बड़े दुष्ट और छली हो। तुमने साक्षात् पृथ्वीनाथके सम्मुख जिस समय तुम्हारे गांव में महाराज की वस्तु खोगई थी, निवेदन-पत्र दिया था, कि जहाँ पृथ्वीनाथकी वस्तु गिर पड़ी है वह क्षेमशर्म्मा की भूमि है और उसने खोज कर महाराज की अँगूठी दी थी कि जिसके पलटे में उसे पाँच सौ रुपये पारितोषिक मिले थे। वे सब बातें इस राजमुद्राङ्कित प्रमाणपत्र में लिखी हैं। अतः क्षेमशर्म्मा उस खेतका स्वामी है। अगर तुम इसको कभी सताओगे, तो तुमको कठिन दण्ड दिया जायगा।

इस प्रकार न्यायाधीशकी सभासे हारकर ठाकुर लोग चुपचाप लज्जित होकर अपने घर चले गए, और क्षेमशर्मा अपनी भूमि पाकर आनन्द करने लगा। राजा का यश पृथ्वी पर छा गया और लोगों को यह डर होगया कि राजा अनुभवी और ज्ञानी है--सबका पद-कुपद जान जाता है। जो कोई अन्याय करेगा वह दंड पावेगा। इस प्रकार जब सारी प्रजाके अन्तःकरण में राजाकी शंका पैठ गई, तो राजा के राज्य से अन्याय और असत्कर्म उठ गया और सब मनुष्य सुमार्ग पर चलने लगे।

उपाख्यान।

दो मनुष्य विदेश जाते थे। कहीं मार्ग में एक थैली पड़ी मिल गई। उसको खोलकर देखा तो उसमें सहस्र रुपए और दो मणि थे। ये दोनोंने आधे-आधे रुपए और एक-एक मणि बाँट ली। एकने कहा कि मैं तो अब विदेश न जाऊँगा क्योंकि मेरा प्रयोजन होगया। दूसरे ने कहा कि भाई, मैं अभी नहीं लौटूँगा। तुम मेरा पाँचसौ रुपया और यह मणि लेते जाना और मेरी स्त्रीको देदेना। उसने अपने घर लौट कर पाँचसौ रुपया तो उसकी स्त्रीको दिया परन्तु मणि न दी। जब वह कुछ दिनमें विदेशसे आया और अपनी स्त्री से पूछा कि हमने तुम्हारे पास जो एकमणि और पाँचसौ रुपया भेजा था सो तुम्हें मिला है या नहीं? उसने कहा कि पाँचसौ रुपया तो मुझे मिला है, परन्तु मणि मुझे नहीं मिली। तब उसने अपने साथी से कहा कि तुमने मेरी स्त्रीको मणि क्यों नहीं दी? उसने कहा कि मैंने तो मणि और रुपया दोनों एक साथही दिया है। तुम्हारी स्त्री झूठ

बोलती है। यह सुन उसने अपनी स्त्रीको डाटा कि तू क्यों झूठ बोलती है? उसने तो तुझे मणि दे दी है। मणि लाकर दिखला दे, नहीं तो तेरे लिए अच्छा न होगा। वह दुखिया रोती हुई न्यायकर्त्ताकी सभामें गई और वहाँ उसने प्रार्थना की कि मुझे मिथ्या कलंकसे बचाइए।

न्यायकर्त्ताने प्रतिवादीको बुलाकर पूछा कि तूने इसको मणि क्यों नहीं दी? उसने कहा कि मैंने तो तभी दे दिया था। न्यायकर्त्ता ने कहा कि जब तुमने दिया था तब और कोई था? उसने कहा कि हाँ, दो मनुष्य साक्षी हैं। न्यायकर्त्ता ने साक्षियों को भी बुलाया। उसने कुछ धन देकर साखियों को सब सिखादिया था और जब न्यायकर्त्ता ने उनसे पूछा कि तुम्हारे सम्मुख इसने इस स्त्री को मणि दिया? तो उन्होंने कहा कि हाँ। इस वर्णन पर न्यायकर्त्ता ने स्त्री को हरा दिया। स्त्री घबड़ाकर राजाकी शरण में गई और कहनेलगी कि मेरे ऊपर बड़ा अन्याय होता है।

राजाने कहा कि न्यायकर्त्ताके पास क्यों नहीं जाती? वह बोली कि पृथ्वीनाथ न्यायकर्त्ता तो मुझे मिथ्याही ठहरा चुके हैं। अब आप मेरे कार्यको देखें। राजाने उस कार्य्य के कागज़-पत्र मँगवाए और साखियों को बुलाकर पूछा कि मणि तुम्हारे सम्मुख दीगई है? उन्होंने कहा कि हाँ। तब राजाने कहा कि मणिके आकारकी तुम्हें सुधि बनी होगी। उन्होंने कहा कि हाँ महीनाथ! हमें भली-भाँति सुधि है। इसके अनन्तर राजाने गीली मिट्टी मँगाकर थोड़ी थोड़ी सब को दी और कहा कि जैसी मणि थी वैसाही सब कोई मिट्टीसे बना लाओ और सबके साथ एक-एक प्यादा कर

दिया कि एक दूसरेसे मिलने न पावें । अतः जिसके पास मणि थी उसने तो ठीक मणिका आकार बनाया और दोनों साखी न्यारे-न्यारे प्रकार के छोटे बड़े बना लाए । क्योंकि उन्होंने तो मणि देखा नहीं था । बनाते क्या ? स्त्री बोली कि मुझे तो मणिका ज्ञान नहीं कि वह कैसी होती है। मैं क्या बनाऊँ। यह सुन राजाने प्रतिवादीको बुलाकर कहा कि तूने स्त्रीको मणि नहीं दी। मणि तेरे पास है और तेरे साखी सिखाए हुए हैं। उसकी मणि देदे नहीं तुझे प्राणदंड होगा। यह सुन उसने तुरन्त मणि देदिया और झूठे साखियों को राजाने यथोचित ताड़ना की। वह स्त्री अपने न्यायको पाकर आशीर्वाद देती तथा महाराजकी जयजयकार करती हुई अपने घर गई । अपने पतिको मणि देकर कलंकसे मुक्त हुई और राजा ने न्याय-कर्त्ता को बुलाकर बहुत धिक्कारा और कहा कि केवल साखियों की बात पर न चला करो विचार और न्यायके समय कुछ-विद्याबुद्धिसे भी सहायता लिया करो । क्योंकि लिखा है—

सोरठा ।

सभा समुद्र अपार, गुण औगुण पय नीर गति ।
राजा हंस विचार, करै सुदेखै काढ़िकै ॥

सप्तम तरङ्ग।

सत्य।

उपाख्यान।

नैमिषारण्यमें एक समय बहुतसे ऋषि-मुनि एकत्र थे। उनसे परशुरामने पूछा कि लोक-परलोक सुधारने के लिए कौन वस्तु सबसे उत्तम है? इस प्रश्नको सुनकर लोमश मुनिने कहा कि हे भृगुवंश के भूषण परशुराम! तुम्हारे प्रश्नके उत्तर तो बहुत हैं परन्तु उनमेंसे एक उत्तर निर्विवाद है। इस संसार में परम उत्तम और पवित्र वस्तु सत्य है; जिसकी प्रशंसा लोक-परलोक दोनों में एक-सी है—अर्थात् लोकमें सत्यवादीकी साख चलती तथा उत्तम कीर्ति बढ़ती है; और परलोक में शुभ गति मिलती है। सत्य ऐसा पदार्थ है कि इसको प्रत्येक देश और प्रत्येक मतका मनुष्य उत्तम समझता है। यहाँ तक कि जो नीचकर्मी और क्रूराचारी जीव होते हैं, वे भी सत्यको उत्तम जानते हैं। जो सत्यको नहीं छोड़ता वह भारी आपदा से बच जाता है।

कलिंगदेशमें एक सत्यशीलशर्म्मा ब्राह्मण था। वह दिन भर अपने गृहस्थीका काम-काज करता और रातको निश्चिन्त होकर वनके बीच में एक मंदिर में जाकर भजन-भाव और सत्संग करता। रातके समय एक दिन वह उस मन्दिरको सत्संग के लिए जा रहा था, उसे मार्ग में एक बड़ा भयंकर राक्षस मिला। वह सत्यशीलशर्म्मा को देखकर खानेके लिए दौड़ा। उसके करालरूप को देखकर

थर-थर काँपने और कहने लगा कि भाई, तू मेरी ओर क्यों दौड़ा आता है? राक्षस ने कहा कि तू नहीं जानता, मैं मनुष्यों का खानेवाला हूँ। अभी तुझे भी खाकर अपनी क्षुधाको शांत करता हूँ।

यह बात सुनकर सत्यशीलशर्माने कहा कि शरीरके नष्ट होनेका तो मुझे शोक नहीं है, क्योंकि यह शरीर किसी न किसी दिन नष्ट होजायगा, परन्तु मुझे इस बातका शोक है कि आजका दिन मेरा व्यर्थ होजायगा। क्योंकि जिस दिन मनुष्य ईश्वर का स्मरण और सत्संग नहीं करता वह दिन उसका व्यर्थ बीतता है। इसलिए यदि तू मेरी बिनती को सुनकर मुझे सत्संग करने को जाने दे, तो मैं बड़ा कृतज्ञ हूँगा। मैं सत्य कहता हूँ फिरती बार यहाँ आऊँगा तब सुख-पूर्वक मेरे शरीरको भक्षण करना।

यह बात सुनकर राक्षसने कहा कि तुमको मैं जाने दूँ और यदि तुम फिरकर न आये तो मैं क्या करूँगा? सत्यशीलशर्मा ने कहा कि हे राक्षसोत्तम! जैसे तुम आहार को प्रिय समझ कर नहीं छोड़ा चाहते, वैसेही मैं भी सत्य को प्रिय और इष्ट समझ कर यह नहीं चाहता कि मेरा सत्य जाय। क्योंकि वचन कहने में सदैव अन्तरात्मा साक्षी रहता है। जो कोई असत्य बोलकर उसको धोखा देता और ठगता है उससे बढ़कर कोई अधर्म नहीं है। इसलिए मैं सच कहता हूँ कि आज का सत्संग मुझे करने दो और थोड़ी रात रहने पर मैं इसी बाट होकर आऊँगा और तुमको अपना शरीर खिलाऊँगा। मैं जितना असत्य से डरता हूँ उतना और दुःखोंसे नहीं डरता।

इस प्रकार सत्यशील की बिनती सुनकर राक्षसको

विश्वास होगया उसने कहा कि अच्छा, तुम जाओ और थोड़ी रात रहे जब लौटना तभी हम तुमको खायँगे ।

इसके अनन्तर सत्यशील वहाँ गया और उसने रात भर गाया-बजाया तथा सत्संग किया और थोड़ी रात रहने पर जब लौटा तो तुरंत राक्षसके पास जाकर बोला कि मैं अपने वचन के अनुसार उपस्थित हूँ और मेरा जो सत्संग करने का मनोरथ था सो पूर्ण होगया । अब मुझे आप इच्छानुसार खाइए। यह बात सुनकर राक्षसको ज्ञान उत्पन्न हुआ, और उसने सत्यशीलको नहीं खाया । राक्षस परम-सत्यताको प्रधान रखकर ब्राह्मणसे बोला कि हमने तुम्हारे समान सत्य-वक्ता नहीं देखा । इसलिए मैंने तुमको सत्यका गुरु माना और मेरे ऊपर कृपा करके ऐसा उपदेश कीजिए कि मुझ पर परमेश्वर प्रसन्न होकर मुझे मुक्ति दें । राक्षसकी ऐसी ज्ञानयुक्त वाणी सुनकर सत्यशीलने कहा कि सुनो भाई, मुझे इतनी सामर्थ्य नहीं है कि मैं गुरु बन कर किसीको चेला करूँ । मैं आप चेला बना हूँ और उस बातका जानना कि जिससे परमेश्वर प्रसन्न होकर मुक्ति दे, बहुत कठिन है । परन्तु महात्माओंके मुखसे जो मैंने सुना है सो कहता हूँ । सुनो—

चौपाई ।

सत्य बचन बोले दिन राती । प्रिय अधीन सबकर सब भाँती ॥
परतिय जानहि मातु समाना । करत सदा सब कर कल्याना ॥
रहत प्रसन्न ईश तेहि ऊपर । होत बिपन्न न वह कबहूँ नर ॥

इस प्रकार सत्यशीलके वचन सुनकर राक्षसने प्रतिज्ञा की, कि आजसे मैं किसी जीवजन्तुको दुःख न दूँगा । निदान उसने वैसाही किया और उस दिनसे मनुष्यादिका

खाना बंद कर दिया। और आप ईश्वरके भजनमें तत्पर होगया। कुछ दिनमें राक्षसी प्रकृतिसे भी छूट गया अपना फल फूल खाकर जीवन निर्वाह करता रहा। अन्तमें उसका बड़ा सुयश फैल गया और मरने पर स्वर्गगामी हुआ।

उपाख्यान।

लोमशमुनि ने कहा कि मैं सत्यकी प्रशंसा के विषय में एक और इतिहास कहता हूँ, उसको सुनो। मथुरा में एक चन्द्रसेन नामक राजा रहते थे। वह सदैव राजधर्ममें निष्ठ, अतिथिपूजक, सत्यवक्ता, सत्यपराक्रमी और प्रजापालक थे। उसकी राजधानी में भी हृष्ट-पुष्ट और सत्यवादी धर्मशील मनुष्य बसते थे। पशु, पक्षी आदि जीव भी आनन्दचित्त रहते थे। यह बात बुद्धि और प्रमाण दोनों प्रकार से सिद्ध है कि जिस समय जिस प्रकृतिका राजा होता है, वैसीही प्रजा होजाती है। जैसा धर्मशास्त्र में लिखा है—

श्लोक।

राज्ञि धर्म्मिणि धर्म्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
प्रजास्तदनुवर्त्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥

अर्थात् जहाँ राजा धर्मिष्ठ होता है, वहाँकी प्रजा भी धर्मिष्ठ होती है। और जहाँ राजा पापिष्ठ होगा वहाँकी प्रजा भी पाप करेगी। राजा जो जो कर्म करता है उसी के अनुसार प्रजा भी चलती है। इसलिए यह वचन प्रसिद्ध है कि 'यथा राजा, तथा प्रजा' सो राजा चंद्रसेन के राज्य में मनुष्य तो सर्वथा धर्मशील थे, परन्तु वह राजा ऐसी शुद्धभावना और धर्मचिन्तासे राज करता था कि, उसके राज्यमें पशु पक्षी भी ऐसे धर्मनिष्ठ और सत्य-

वादी थे कि असत्य बोलने से प्राण का देना अच्छा समझते थे।

राजा चन्द्रसेनके राज्यमें गायोंका एक बहुत बड़ा समूह था। उन सबमें एक गाय, जिसका नाम बहुला था, प्रधान और मुखिया थी। वह सदा सब गायोंके आगे-आगे चलती और चरती थी। वह बहुला गाय किसी समय चरती हुई एक बड़े गहन वनमें चली गई। वहाँ सौभल नाम महाव्याघ्र रहता था, जिसके बड़े बड़े तीखे दाँत और नख थे। उससे और बहुला गायसे भेंट होगई। उसको देखकर बहुला थर-थर काँपने और कहने लगी कि इस प्राण-संकटमें मेरा कोई रक्षक नहीं है। वह अपने मनमें ऐसा सोच ही रही थी कि सौभल व्याघ्र बोला कि हे मेरे प्राण के पुष्टकारक आहार! तू खड़ी हो, डरनेसे अब तू क्या कर सकेगी। आज तेरा जीना दुर्लभ है। क्योंकि मैं निश्चय करके भूखा हूँ। वैसाही संयोग बन पड़ा है। अब तेरे मांस और रक्त से मैं तृप्त हूँगा।

व्याघ्रकी इस वाणीको सुनकर वह इस प्रकार काँपने लगी जैसे पवनके झकोरे में केलेका वृक्ष काँपता है। अपने बछड़े की सुध करके बहुला रोने लगी। व्याघ्रने उससे फिर कहा कि हे बहुला! तू चाहे जितना रोये—पर तेरे प्राण नहीं बचेंगे। यह बात सुनकर मनमें धैर्य करके बहुला बोली कि हे पशुओंके राजा! मैं तुमको प्रणाम करती हूँ। कुछ मेरा निवेदन है, उसे सुनिए। मैं जीने-मरने का शोच नहीं करती। क्योंकि इस शरीरके लिए सुख-दुःख का निश्चय नहीं है। मृत्यु ध्रुव है। लिखा भी है—

दोहा।

जो जन्मत सो मरत है, या में नहिं संदेह।
चहै आज या सौ बरस, पीछे फिर क्या नेह॥

परन्तु मुझे इस बातका शोच है कि मेरे एक प्यारा बछड़ा है। वह मेरा आसरा देखता हुआ क्षुधासे विकल होगा। मैंने उससे कहा था कि संध्याके समय आकर तुझे दूध पिलाऊँगी। मैं इसी बातसे डरती हूँ कि मेरा वचन झूठा न हो और मरते समय उसे एक बार दूध और पिलालूँ। फिर मुझे अपने मरने का कुछ शोच न होगा। आप आनन्दपूर्वक शरीरको भक्षण कीजिएगा। आपके विश्वासके लिए मैं शपथ करती हूँ कि यदि मैं बछड़ेको दूध पिलाकर आपके पास फिर लौट कर न आऊँ तो मुझे वह पाप हो जो पुत्र को माता-पिताके अपमानसे होता है। जो विद्यार्थी विद्या पढ़ता है और गुरुकी शुश्रूषा नहीं करता, वही पाप मुझे लगे, यदि बछड़ेको दूध पिलाकर फिर आपके पास न आऊँ। जो राजा प्रजासे कर लेकर अपना भंडार भरता है और प्रजाकी भलाई और उपकारका उपाय नहीं करता, वही पाप मुझे लगे, यदि मैं फिरकर न आऊँ। और कृतघ्न, विश्वासघाती और मिथ्यावादीको जो पाप होता है वही मुझे हो, यदि अपने वचनको पूरा न करूँ। इस प्रकार बहुलाकी शपथ सुनकर सौभलने कहा कि तुमने जो बड़ी-बड़ी शपथ की हैं यदि उनके विश्वास पर तुझे छोड़ दूँ तो मानो अपने आहार को मैंने आप फेंक दिया। यह बात राजनीतिके विपरीत है। क्योंकि जो प्रकट वस्तु छोड़कर अप्रकट वस्तु की आशा करता है, वह प्रकट वस्तुको अप्र-

कट करता है और अप्रकट तो पहिले ही से अप्रकट है। लिखा भी ऐसा ही है—

दोहा।

जो ध्रुव बस्तुहि छोड़िकै, सेवत अध्रुव बात।
अध्रुव प्रथमहि नष्ट है, ध्रुवहु नष्ट होइ जात॥

यदि मैं तुझे घर जाने दूँ और तू घर बैठ रहे तो मैं क्या करूँगा? बहुला ने कहा कि इस संसारमें सत्यके समान धर्म और असत्यके समान कोई पाप नहीं है। सुनो—

दोहा।

जहाँ सत्य तहँ धर्म है, जहाँ सत्य तहँ योग।
जहाँ सत्य तहँ श्री रहत, जहाँ सत्य तहँ भोग॥
वायु बहत है सत्य ते, जलत सत्य ते आग।
सत्यहिं ते धरती थँभी, सत्य होत बड़ भाग॥
सत्य भावको गहहु तुम, तजो झूठ को भाव।
नहिं असत्यसम और है, पातक सुनु मृगराव॥

जो असत्य बोलता है उसका धर्म नष्ट होजाता है और परलोक बिगड़ता है। असत्यवादीकी लोक में ऐसी साख चलती है कि कदाचित् वह सच भी कहता हो तो लोग उसको झूठही समझते हैं। यदि उस पर विपत्ति या दुःख पड़ता है तो लोग मिथ्या और झूठ समझ कर असत्यवादी पर दया नहीं करते। विदूषकपाल भाँड़ की उदर-पीड़ा को लोग मिथ्याही समझते रहे। परन्तु वह उसी दुःख में काल-वश होगया। किसी ने कुछ उसका उपाय नहीं किया। इसीकारण हे गजेन्द्र! यदि मैं लौटकर न आऊँ तो मेरा यह लोक और परलोक दोनों नष्ट होजायँ और मैं झूठी कहाऊँ।

सौभल व्याघ्र ने पूछा कि विदूषकपाल भाँड़ की कथा कैसी है ? बहुला बोली चंद्रावतीनगरी में एक विदूषकपाल भाँड़ ऐसा कौतुकी था कि वह जिसका वेष बनाकर जिस प्रसंग का कौतुक करता उसका यथार्थरूप ही बन जाता था और उसका वह कौतुक ऐसा न जान पड़ता था कि झूठ है। एक समय वह किसी सभा में कौतुक कर रहा था। उसके अन्तःकरण में बहुत दिनों से शूलका रोग था। कौतुक करते-करते उसके पेट में इतनी पीड़ा उठी कि वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। वह इधर-उधर लेटता और चिल्ला-चिल्ला कर यह कहता था कि भाइयो, मेरा प्राण जाता है, मुझे कुछ औषधि खिलाओ। लोग उसकी बात सुनकर हँसते और कौतुक समझते थे। किसी ने कुछ औषधि न दिया। निदान उसको इतनी पीड़ाहुई कि वह छटपटा-छटपटा कर मरगया। मरनेपरभी लोग यही समझते थे कि उसने कौतुक और खेल करनेके लिए ऐसी अवस्था बनाई है। अंत में जब देखा गया तो सत्य ही मरा ठहरा। लोग पछताने लगे कि यदि हमलोग जानते कि यह सत्य कहता है तो औषधि अवश्य करते। उस समय एक विद्वान्ने कहा कि इसका मरना उन मनुष्यों के लिए उत्तम शिक्षा और उपदेश है जो असत्य बोलकर अपना यह लोक और परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। जिसप्रकार आज इस भाँड़ की पीड़ा पर किसीको दया नहीं आई उसीप्रकार जो झूठे और असत्यवादी मनुष्य होते हैं, उन पर कैसी ही विपत्ति क्यों न पड़े, परन्तु उनके वचनको मिथ्या समझ कर कोई उन पर दया नहीं करता। यह कहकर बहुला फिर बोली, कि मेरे सत्य शपथपर आप विश्वास करके मुझे

जाने दीजिए। मैं अपने बछड़ेको दूध पिलाकर अवश्य लौट आऊँगी।

इसप्रकार शपथ को सुन कर व्याघ्र ने कहा कि बहुत अच्छा, मैं तेरे शपथके विश्वास पर तुझे जानेकी अनुमति देता हूँ। परन्तु अपने किएहुए शपथ और वचनको भूल न जाना। बछड़े को दूध पिलाना और उसे अपनी सखी को सौंपकर तुरन्त लौट आना। मैं इसी स्थान पर तेरी प्रत्याशा करूँगा।

यह वचन सुनकर बहुला अपने घरको चली। उस समय वह रोती और ईश्वरकी शरण पुकारती थी कि, हे दीनबंधु, कृपासिंधु! मुझ दीनपर ऐसी दया-दृष्टि करो कि मैं असत्य से बचूँ और मेरा शपथ पूरा हो। इसके अनन्तर बहुला जब अपने स्थान पर पहुँची तो बछड़े का हुँकार सुनकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। पुनः उठकर उसके निकट गई। बछड़े ने माताको दुःखित देखकर पूछा कि हे अम्ब! तेरी यह घबराहटकी दशा क्यों हो रही है?।

बहुला बोली कि हे पुत्र! मेरे दुग्धको तू इच्छापूर्वक पीले। आज मेरे दुःखकी बात मत पूछ। मैं केवल तुझे दूध पिलाने और देखनेके लिए आई हूँ। उसी स्थानको पलट जाऊँगी जहाँ से वादा करके आई हूँ। इस प्रकार बछड़ेको समझा कर दूध पिलाया और उसे सखियोंको सौंप कर फिर यमुनाके तट पर जहाँ काल-रूपी व्याघ्र था तुरन्त लौट गई और बिनतीके साथ बोली कि प्रथम मैं उस परमात्माका ध्यान करती हूँ कि जिसने मुझे असत्य से बचाकर यहाँ तक पहुँचाया। फिर हे व्याघ्र! तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि अब अपनी इच्छानुसार मेरे शरीरको खाइए

और तृप्त होइए । इस प्रकार बहुलाकी सत्यता और शपथ की पूर्णता देख, सौभल व्याघ्र चकित और आश्चर्यित होगया और कहनेलगा कि उस प्रभुको धन्यवाद है, जिसकी सृष्टि में ऐसे-ऐसे सत्यवादी जीव भी हैं जो सत्य-पालने के लिए अपने प्राण को तुच्छ समझते हैं; जैसे कि यह बहुला गाय है जो केवल सत्यको मुख्य समझ तथा अपने बालक का स्नेह छोड़कर अपना प्रिय शरीर देनेके लिए अपने प्राण को मुझ काल-रूपीके निकट लेकर आई है। यदि आज इसको खालेता हूँ तो यह अपने सत्य के प्रभावसे उत्तम गति को प्राप्त होगी। परन्तु परलोक में मेरी क्या गति होगी ? क्योंकि जो किसी महात्मा तथा धर्मिष्ठमें किसी उत्तम कर्मको देख कर उसका आचरण नहीं करता तथा अपने अधर्मको नहीं छोड़ता तो उसकी फिर कभी सुगति नहीं होती। इसप्रकार सोच-विचारकर बहुलासे बोला कि तू धन्य है और वह राजा धन्य है, जिसके राज्य में ऐसे-ऐसे सत्यवादी पशु हैं कि जिसके सत्संगसे मुझ महापापकर्मीके अंतसमें ज्ञान और दया उत्पन्न हुई । अब हे बहुले ! तू अपने स्थान को जा और अपने बछड़े को, जो तेरे शोकमें विकल होगा, संतुष्ट कर ।

लोमश बोले कि सुनो परशुराम, बहुला तो व्याघ्रकी आज्ञानुसार अपने घर चलीगई और व्याघ्र अपने किएहुए पापोंकी सुध करके जो उसने बाल्यावस्था से अनेक मनुष्यों और पशुओं की हिंसा की थी, सोचने और पछिताने लगा तथा ईश्वरसे अपराधों की क्षमा माँगता हुआ बोला कि हे प्रभो ! तूने बहुलाको असत्य पापसे बचाया तो मुझे हिंसा पाप से बचाओ और मेरे जीव को अपने लोक में बुलाओ । इस प्रकार व्याघ्रकी आरतवाणी और प्रार्थना

ईश्वर के यहाँ अंगीकार हुई। स्वर्गदूत व्याघ्रके निकट आया और वह व्याघ्र पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़ दिव्यरूपको धारण कर स्वर्गदूत के साथ उत्तम लोकको प्राप्त हुआ। सत्य ऐसाही है—

दोहा।

सत्य नाव पर जो चढ़े, यह भव सिन्धु अपार।
आप बचे अरु और को, देवे पार उतार॥

तृतीय आख्यान।

कोशल देश में देवदत्त नाम एक पुत्र-हीन ब्राह्मण था। इसलिए वह ऋषियों को बुलाकर वेदके विधान से पुत्रेष्टि यज्ञ करता था। उसमें गोभिल मुनि का, जो सातों स्वरोंसे वेदकी ऋचा पढ़ते थे वारंवार साँस लेने से, स्वर भंग होगया। देवदत्तने गोभिल से कहा कि तू बड़ा मूर्ख है। तूने मेरे पुत्र-कामना के यज्ञ में स्वर भंग कर दिया। गोभिल बोला कि तेरा पुत्र मूर्ख होगा परन्तु मैं तो मूर्ख नहीं हूँ। सबके शरीर में साँस आता जाता रहता है। यदि साँस लेनेसे स्वर भंग होगया तो मेरा इसमें क्या दोष है? इस प्रकार गोभिल के शापको सुनकर देवदत्त ने कहा कि साधारण बात में विना अपराध आपने मुझे इतना बड़ा शाप देदिया। संतोंको क्रोध न करना चाहिए। मूर्ख पुत्रसे पुत्रका न होना अच्छा है। क्योंकि मूर्ख पशु के तुल्य होता है और सब लोगों में निन्दित रहता और सत्कर्म का अधिकारी नहीं होता है। शास्त्र में लिखा है कि मूर्खको आहार से अधिक दान न देना चाहिए। जिसके राज्य में मूर्खोंका सन्मान होता है उस राजा की निन्दा होती है।

दोहा ।

जहाँ मूर्ख का जाल है, पण्डित जन अपमान ।
बसत न ऐसे देस में, जे नर बुद्धि-निधान ॥

देवदत्तने गोभिलसे कहा कि तुमने मुझे बड़ा अविहित शाप दिया। मूर्ख पुत्रके होने से मरजाना अच्छा है। तुम्हारे चरण छूकर प्रार्थना करता हूँ कि अनुग्रह करके शापका निवारण करो । देवदत्तकी इस प्रकारकी बिनती सुनकर गोभिल मुनिका चित्त फिर कोमल होगया—क्योंकि महात्माओंका क्रोध क्षण-मात्रके लिए होता है और खलोंका क्रोध अधिक दिन तक रहता है। गोभिल मुनिने कहा कि तुम्हारा पुत्र मूर्ख होगा परन्तु पीछेसे विद्वान् होजायगा । इसके अनन्तर देवदत्त ने यज्ञको पूर्ण किया । कुछ कालांतर उसके पुत्र उत्पन्न हुआ। जब पुत्रका आठवाँ वर्ष आया, तो देवदत्तने उसका यज्ञोपवीत किया और विद्या पढ़ाने लगा । बाल अवस्थासे लेकर युवा अवस्था तक उसको बहुत प्रकार से पढ़ाया। परन्तु उस को कुछ ज्ञान न हुआ वरन् प्रति-दिन विशेष जड़ होता गया और उसकी ख्याति लोगोंमें फैल गई कि देवदत्तका पुत्र महाजड़बुद्धि है। उसकी समझमें अभी तक कुछ नहीं आता। इस प्रकार जब उसकी सर्वत्र निन्दा होनेलगी और माता-पिता भी दुर्वचन कहने लगे तो उसको बड़ी ग्लानि हुई और अपने मनमें सोचने लगा कि मुझे देख-देख माता-पिताको दुःख होता है—

दोहा ।

अंध पंगु कूबर बहिर, बरु गूंगो सुत होय ।
पै मूरख जनि होय सुत, शास्त्र सुमत यह होय ॥

जब माता-पिताकी कठोर वाणी सुनते-सुनते उसका कलेजा पक गया तो वह एक वनमें जाकर गंगाके तीर कुटी बनाकर रहने लगा। उसने एक तपस्वी महात्मा से पूछा कि महाराज, मुझे तपस्याकी रीति नहीं आती। कोई उत्तम व्रत बतलाइए, जिसके करनेसे मेरा कल्याण हो। उसकी दीनता देखकर तपस्वीने कहा कि इस संसारमें सत्यके समान कोई उत्तम व्रत नहीं है। यदि तू सत्य बोलनेका व्रत धारण करेगा तो जिस पदार्थकी अभिलाषा करेगा वह सब तुझे निश्चय प्राप्त होगा। यह ऐसा सीधा और सुगम व्रत है कि इसमें कुछ पढ़ने-लिखनेका काम नहीं। इसका यही नियम है कि मिथ्याको त्याग देना और सत्यको ग्रहण करना। इस प्रकार तपस्वीके उपदेशको सुनकर उसने उसी दिनसे यह नियम किया कि आज से सत्यको छोड़कर मिथ्या वचन न बोलूँगा। उस दिनसे वह फल-फूल खाता, सत्य वचन बोलता और किसीका अपकार न करता हुआ उसी वनमें रहने लगा। लोग सत्यमें उसकी दृढ़ता देखकर उसे सत्यव्रत कहते थे। परंतु वह अपने जीमें सदा दुःखित और शोक-युक्त रहता; अपनेको हीन और तुच्छ मानता और यह कहता था कि मेरे जन्मको धिक्कार है कि मैंने ऐसे उत्तम कुलमें जन्म लिया और पिता ने मेरे पढ़ाने में कितना श्रम किया परंतु मैं मूर्खका मूर्खही रहगया। मेरे जीनेसे तो मरना ही अच्छा है पर मेरा क्या वश है? जिस दैवने मुझे, मूर्ख किया, वही जिलाता है। किन्तु यह मेरा जन्म निष्फल अवश्य होगया—

चौपाई।

फल बिनु वृक्ष पुत्र बिनु नारी, धेनु दूध बिनु होत खुआरी।

तिमि सुरूप उत्तम कुल जाता, क्रिया-हीन न सोहत गाता॥

इस प्रकार अनेक तर्कना करता हुआ वह उस आश्रम में चौदह वर्ष तक रहा। पूजा, पाठ, जप कुछ न जानता था, केवल सत्यको मुख्य समझकर उसीमें लवलीन था और सत्यको ही धर्मका सर्वस्व समझता तथा अनुमान करता था कि इसी सत्यके प्रभावसे, जैसा कि उस वृद्ध तपस्वीने कहा था, मेरी मूढ़ता दूर होजायगी।

एकदिन उसी वनमें एक बहेलिया अहेरके लिए पहुँचा। उसने एक सूकरके बाण मारा और वह सूकर बाणसे छिदा हुआ सत्यव्रतके आश्रममें जाकर छिप गया। उसका दुःख देखकर मुनिको बड़ी दया आई और उसी समय वह बहेलिया भी धनुष में बाणको खींचे हुए मुनिके निकट गया और प्रणाम करके बोला कि मैं जानता हूँ, जैसा तुम्हारा सत्यव्रत नाम है, वैसाही काम है; तुम सत्यको छोड़ कर झूठ नहीं बोलते। अतः बतलाइए, मेरा अहेर सूकर कहाँ गया? सत्य कहता हूँ कि मैं इसी जीविकासे जीता हूँ और अपने भूखे कुटुम्बका पालन करता हूँ। सो आप बतलाइए, वह मेरा आहार कहाँ गया? व्याधाके इस प्रश्नको सुनकर सत्यव्रत ऐसे धर्म-संकटमें पड़ गया कि उससे कुछ न कहा गया। वह सोचने लगा कि यदि मैं सच बोलता हूँ तो सुअरका प्राण जाता है और साथही दयारूपी धर्म जाता रहेगा। क्योंकि महात्माओंका वचन है कि जिस मिथ्यासे किसी का प्राण बचे वही सत्य है; और जिस सत्यसे किसीका प्राण मारा जाय वही असत्य है। यदि मैं सुअर पर दया करके झूठ बोलूँ तो मेरा बहुत दिनका संचित सत्यका व्रत जाता रहेगा। ऐसा कोई उपाय ईश्वर

मुझे सुझावे कि मेरा सत्यव्रत भी रहे और सुअरका प्राण भी बचे। इसप्रकार जब उसने सत्यकी दृढ़ता करके ईश्वरको पुकारा तो उसी समय उसके मनमें भगवत्कृपा से परम अनुभव हुआ और उसने यह श्लोक पढ़ा—

श्लोक।

या पश्यति न सा ब्रूते, या ब्रूते सा न पश्यति।
अहो व्याध स्वकार्यार्थिन्, किम्पृच्छसि पुनः पुनः॥

हे व्याध! तुम अपने अर्थके लिए क्यों बार-बार पूछते हो। जिस इन्द्रियने देखा है वह बोल नहीं सकती और जो बोल सकती है उसने देखा नहीं। सत्यव्रत का यह वचन सुन व्याध उस स्थानसे अन्यत्र चला गया। उसी दिनसे सत्यव्रत की बुद्धि ऐसी चमत्कार-पूर्ण हुई कि अपूर्व और विलक्षण आशय आपही आप सूझने लगे। सत्यव्रत पृथ्वीमें बड़ा प्रसिद्ध कवि और विद्वान् हुआ, जिसकी ख्याति विशेषतः पुराणोंमें लिखी हुई आज भी मिलती है।

अष्टम तरङ्ग।

उद्योग और पुरुषार्थ।

श्लोक।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी,-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोत्र दोषः॥

"उद्योगी पुरुष-सिंह के पास लक्ष्मी जाती है। दैव देगा, यह कायर पुरुष कहते हैं। इसलिए दैवको छोड़कर अपनी शक्तिसे प्रयत्न करना चाहिए। यत्न किए जाने पर भी यदि सिद्ध न हो, तो इसमें दोष ही क्या है?

दोहा।

दैव-दैव करि मूर्खजन, कछु न करैं व्यवसाय।
क्योंकर कर डोले बिना, कौर-पेट में जाय॥
श्रम कीन्हें धन होत है, धनही सुख को मूल।
हे व्यवसायी, चतुरनर, उद्यम को मत भूल॥

प्रथम उपाख्यान।

मध्य देशमें एक बड़ा विद्वान् पुरुष रहता था। वह काव्या-लंकार में बड़ा निपुण और विचक्षण था। उसकी कविता इतनी मीठी और ललित होती थी कि जो सुनता वही उस के वशमें हो जाता। उसकी स्त्री भी बहुत चतुर और पण्डिता थी। उसका नाम विद्यावती था। परन्तु वह विद्वान् जीविका के लिए कहीं न जाता। केवल दैवको प्रधान करके यह कहा करता कि मेरे प्रारब्धमें जो होगा वह

यहाँ ही मिलेगा। परदेश जानेसे क्या होगा? इस बात पर उसकी स्त्री उसे समझाती कि आप विद्वान् होकर ऐसी बात मत कहो कि आपका काम दैवगति से होगा। दैवगति तो सर्वोपरि है। उसमें किसीका प्रवेश नहीं। परंतु उसका फल श्रमसेही मिलता है। यदि आप लड़काईसे श्रम न करते तो विद्या किस प्रकार मिलती। यह बात माननीय है कि प्रत्येक काम दैवकी अनुकूलतासे होता है। जैसे एक पहिएसे गाड़ी नहीं चलती। जब दो पहिए होते हैं तब गाड़ी चलती है। इसी प्रकार दैव और उद्योग दोनोंको मिलानेसे कार्य सिद्ध होता है। विद्वान् ने कहा कि प्रिये! तू सच कहती है। पर मेरा यह निश्चय है कि यदि दैव न चाहेगा तो हम कहीं जायँ, हमको कुछ न मिलेगा और दैव चाहेगा तो घर बैठे सब कुछ मिल सकता है। विद्यावती बोली कि दैवकी गति सर्वथा बलिष्ठ है परन्तु मनुष्य को उद्यम अवश्य करना चाहिए। जैसा किसी कविने कहा है ॥

दोहा।

कर्म हेतु हरि तन दियो, ताते कीजे काज।
दैव थापि आलस करे, ताको होय अकाज ॥
कैसो होय समर्थ कोउ, बिन उद्यम थकिजाय।
निकट अशन बिन कर चले, कहु किमि मुख में जाय ॥

इस प्रकार विद्यावतीके उपदेशको हितकर जानकर वह विद्वान् इधर-उधर घूमने गया। किन्तु कहीं कुछ न पाया। तब शोक-युक्त होकर कहने लगा कि मैंने उद्योग भी किया पर कुछ फल न मिला। विद्यावतीने कहा कि स्वामिन्! यहाँ कोई गुण-ग्राहक नहीं है। इसीसे आपका काम नहीं चलता। क्योंकि—

दोहा।

जहाँ न जाको गुण लहै, तहाँ न ताको काम।
धोबी बसिकै का करै, दीगम्बर के गाम॥

श्लोक।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां, मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥

जो जिसके गुणकी उत्तमता नहीं जानता वह निरन्तर उसकी निन्दा करता है। जैसे कोलभीलों की स्त्री गजमुक्ता को छोड़कर घुंघची को पहिनती है। ऐसेही यहाँ कोई गुण-ग्राहक नहीं है। विद्वान् ने कहा कि यह हमारा देश है। सब लोग हमको जानते हैं। यदि हमारे भाग्यमें होता तो यहीं मिलता। विद्यावती ने कहा कि आप देश-परदेश पर ध्यान न करें। केवल गुणज्ञता की प्रधानता है। कुछ निकट और दूर की बात नहीं जो जिसे जानता है वह दूरसे भी मानता है और जो नहीं जानता वह पास रहने पर भी नहीं पहिचानता।

चौपाई।

कमलन कर गुण मधुकर माना। दादुर निकट बसे नहिं जाना॥

आप जहाँ गए भी सामान्य मनुष्यों के निकट गए जो आपके ग्राहक नहीं। आपको किसी राजाके निकट जाना चाहिए था। जैसा नीति में लिखा है।

श्लोक।

अन्येषां चैव सत्वानां ग्राहका बहवो भुवि।
पण्डितानां गजेन्द्राणां ग्राहको नृपतिर्गुणी॥

संसार में और प्राणियोंके ग्राहक अनेक हैं परन्तु पंडितों और हाथियों का ग्राहक केवल राजा है। इसलिए आपको किसी गुणज्ञ राजाके यहाँ जाना चाहिए। यह वचन सुनकर वह विद्वान् दक्षिण देश में किसी राजा के यहाँ गया। वहाँ उसकी विद्या का बड़ा आदर हुआ और जब चलने लगा तो राजा ने बहुत सा धन-रत्न मँगाकर उसके निकट ढेर लगा दिया और कहा कि इसको लेकर आप अपने स्थान को जाइए। जब विद्वान्ने अपने पास धन-रत्नोंका ढेर देखा तो बहुत प्रसन्न होकर इस प्रकार इधर-उधर घूमने तथा देखने लगा कि मानो कोई वस्तु खोगईहो उसे ढूँढ़ रहा है। उसकी यह दशा देखकर राजा ने कहा कि आप क्या ढूँढ़ते हैं? तब विद्वान् ने यह श्लोक पढ़ाः —

श्लोक।

यो गंगामतरत्तथैव यमुनां यो नर्मदां शर्म्मदां ;
का वार्ता सलिलेषु लंघनविधौ यश्चार्णवांस्तीर्णवान्।
सो स्माकं चिरसांस्थितोपि सहसा दारिद्र्यनामा सखा :
त्वद्दानाम्बुसरित्प्रवाहलहरीं मग्नो न सम्भाव्यते॥

जो गंगा यमुना और सुखदायिनी नर्मदाको उतर आया, और इन जलों के उतरनें की क्या बात है, जो समुद्रको भी उतर आया; वह हमारा बहुत दिनों का साथी मित्र जिसका नाम दरिद्र था, सो हे राजन्! आपके दान-रूपी नदी-जल की लहरों में ऐसा डूबा कि इस समय उसका कहीं पता भी नहीं लगता। इस आशयके श्लोकको सुन राजा ने हर्षित हो और भी बहुतसा धन-रत्न विद्वान्को दिया कि जिससे वह जन्मभरके लिए अयाची होगया।

दोहा।

कीन्हे बिना उपाय कछु, दैव कबहुँ नहिं देत।
जोति बीज बोए नहीं, किमि करि जामै खेत॥
कर्म करत फल होत है, जो मन राखै धीर।
श्रमके खोदत कूप ज्यों, थल में प्रगटत नीर॥
झूठ होत जो कर्म-फल, यह विचार मन माहिं।
दुखी-सुखी भल पोच सब, एक रंग कस नाहिं॥

द्वितीय उपाख्यान।

किसी समय प्रमतिमुनिका पुत्र रुरुशर्म्मा वनमें घूमता हुआ स्थूलकेश मुनिके आश्रममें गया। वहाँ स्थूलकेशकी कन्याकी सुन्दरता देखकर, जिसका नाम प्रमद्वरा था, वह मोहित होगया। उसने अपने पितासे जाकर कहा कि मेरा चित्त स्थूलकेशकी कन्या पर आसक्त होगया है, उसके साथ मेरा ब्याह होजाय तो बहुत अच्छा हो। नहीं तो मुझे बड़ा दुःख होगा। क्योंकि ऐसी रूपवती कन्या मुझे कहीं न मिलेगी। पुत्रकी बातको सुनकर प्रमतिमुनिने स्थूल-केशके पास जाकर कन्याकी याचना की। उसने कहा कि कन्या देने का वचन तो आज ही देता हूँ परंतु विवाह शुभ दिन-मुहूर्त्त आने पर ही करूँगा। इस प्रकार दोनों में तय हो गया और दोनों ब्याह की सामग्री करनेमें तत्पर हुए। ब्याह का समय भी निकट आगया। किसी दिन प्रमद्वरा आँगन में खेलती थी। उसने धोखे में सोते हुए साँप के ऊपर चरण रखदिया और सर्प ने ऐसा काटा कि वह मूर्च्छित होकर गिरपड़ी और उसका प्राण निकलगया। वहाँके सब लोग इकट्ठे होकर रोने और शोक-संताप करने लगे। यह

वृत्तान्त सुनकर रुरुशर्म्मा भी जिसके साथ उस कन्या का ब्याह होनेवाला था, दौड़ता-काँपता हुआ आया और उस कन्या को मृतक और पृथ्वी पर पड़ी हुई देखकर विरह में विकल होकर उस स्थान से बाहर निकल कर रोने और विलाप करने लगा और कहा कि मैं बड़ा अभागी हूँ। मेरे जन्म को धिक्कार है कि जो मेरे चित्तकी प्रमोद-मूर्ति थी, वह काल-वश हुई। अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ? इस समय मुझे मृत्यु होनेमें आनन्द था। यह तो दुर्लभ है, नदी में डूब जाऊँ, अग्नि में जल मरूँ, विष खाऊँ, अथवा फाँसी लगालूँ जिससे इस दुःखसे मेरे प्राण बच जायँ।

इस प्रकार विलाप करते-करते वह नदी के ओर चला। किन्तु मार्गमें उसने फिर सोचा कि मरनेसे मुझे क्या फल मिलेगा? एक तो आत्म-घात का दोष लगेगा, दूसरे माता पिता दुःखित होंगे, इसलिए उसके जिलानेका उपाय मुझे करना उचित है। यद्यपि मृत्यु प्रबल है, फिर भी विद्वान्को उद्यम और उपाय अवश्य करना चाहिए। क्योंकि यदि उपाय और श्रम व्यर्थ होता तो मणि-मंत्र तथा औषधि आदि क्यों बनाए जाते। विद्वान्को भवितव्यता पर विश्वास न करना चाहिए। प्रत्यक्ष संसारमें ऐसा कोई न होगा जो विना उद्यम रहता हो। जो लोग विरक्त और यती होजाते हैं वेभी गृहस्थके घर पर बुलाए या विना बुलाए भिक्षा करने जाते हैं। ऐसा कौन होगा जिसके पेट में आहार आप चला जाता हो।

दोहा।

उद्यम किए अनेक विधि, सधे नहीं जब काम।
दैव प्रबल तब कहत हैं, जे पंडित मतिधाम॥

इतना विचारांश करके रुरुशर्माने नदीमें स्नान किया और हाथमें जल लेकर कहा कि आज तक मैंने ईश्वरका जो कुछ भी जप-तप, सत्कर्म और गुरु-महात्माओंकी सेवा की हो, वह पुण्य प्रकट होकर मेरी प्राण-प्रियाको जिलादे। यदि वह न जिएगी तो मैं भी निश्चय प्राणको तज दूँगा। इतना कहकर पृथ्वी में जल छोड़ दिया और आँख मूँदे हुए जगदीश्वरका ध्यान करने लगा। उसी समय एक स्वर्ग-दूत प्रकट होकर बोला कि हे रुरुशर्मा! ऐसा साहस मत करो? मरी हुई कन्या क्योंकर जी सकती है। इसकी आयु आज समाप्त होगयी। जैसे दीपकका तेल घट जाने से दिया नहीं ठहर सकता और बुझ जाता है, वैसेही विना आयु कोई जी नहीं सकता। तुम अपने लिए कहीं दूसरी स्त्री ढूँढ़ो और निर्बुद्धिके समान रुदन मत करो। स्वर्ग-दूत के वचन सुनकर रुरुशर्माने कहा कि मैं दूसरी स्त्री नहीं चाहता। मैं संकल्प करचुका। जब स्वर्ग-दूतने देखा कि यह निश्चय मरनेपर उद्यत है तो उसने कहा कि रुरुशर्मा! यदि तू उसको जिलाना चाहता है तो अपनी आधी आयु उसके नाम संकल्प कर दे। तो मैं उसके जीने का यत्न कर दूँ। इतनी बात स्वर्ग-दूत के मुख से सुनकर रुरुशर्मा ने अपना आधा आयुर्बल प्रमदवरा कन्याके नाम संकल्प कर दिया। तब स्वर्ग-दूत रुरुशर्मा को साथ लेकर उस मृतक कन्याके निकट गया और उसने हाथ में जल लेकर कुछ औषधि मिलाकर उसके मुँहपर छोड़ दिया और कहा कि तू अपने पतिके आधे आयुर्बल से जी उठ। इतना कहतेही वह कन्या जी उठी और वह स्वर्ग-दूत अंतर्द्धान होगया। फिर शुभ मुहूर्त में रुरुशर्मा और प्रमद-

वरा कन्या का ब्याह हुआ। दोनों के माता-पिता अपने मनोरथ को प्राप्त होकर हर्षित हुए और रुरुशर्मा प्रमदवरा के साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

दोहा।

श्रम कीन्हें सुख मिलत है, बिन उपाय नहिं भोग।
दैव-दैव करि दुःख को, लहत आलसी लोग॥

नवम तरङ्ग ।

धन की प्रधानता ।

किसी नदी के तटपर एक तपस्वी महात्मा कुटी बनाकर रहता था। रात-दिन परमेश्वरके भजनमें लगा रहता, कोई क्षण ऐसा न होता कि जिस समय परमेश्वरका ध्यान न करता हो। जो कुछ आहार मिलजाता उसीमें संतोष करके प्रसन्न रहता था।

उसी स्थानसे थोड़ी दूरपर एक बस्ती थी। उसमें से एक ब्राह्मणकी, एक क्षत्रियकी और एक वैश्य की कन्या जब नदी में स्नान करनेको जातीं, तो तीनों बारी-बारी से तपस्वीके भोजनके निमित्त कुछ न कुछ पदार्थ लिए आतीं और उसके पास रखकर चली आतीं। तपस्वी भी लड़कियोंकी शुद्धभावना और श्रद्धा देख उस वस्तुको थोड़ी-बहुत अवश्य खालेता था। उन तीनोंका बहुत दिन तक ऐसाही नियम रहा। जब तीनों लड़कियों का ब्याह होगया और उनके ससुराल में जाने का दिन ठहराया गया, तब वे तीनों बाबाजीसे बिदा होनेके प्रयोजनसे आई और कहा कि महाराज! हम सब अपनी ससुरालको जायँगी। आपसे बिदा होने को आई हैं। अब न जानें आपका दर्शन फिर कब मिले, या न मिले। इसलिए प्रार्थना करती

हैं कि हम लड़कियों पर जैसा स्नेह रखते आए हैं वैसाही बनाए रहें और हमलोगों की ओर से सेवा में जो भूल-चूक हुईहो वह क्षमा करें। यह बात सुन तपस्वी बोला कि, हे पुत्रियो! तुम सभोंने मेरी बड़ी सेवा की है। उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इसलिए तुम तीनोंको जो अभिलाषा हो, वह कहो। जिसके लिए मैं जगत्कर्ता से प्रार्थना करूँ कि वह तुम्हारे मनोरथको सिद्ध करे। यह सुन वे तीनों बोलीं कि, गुरुजी महाराज! हमलोग मुँहसे तो नहीं कह सकतीं परन्तु मनमें जो हम तीनोंके है उसके लिए आप आशीर्वाद दीजिए। यह सुन तपस्वीने ध्यानमें प्रभुसे प्रार्थना की और वह अंगीकृत हुई। तब लड़कियोंसे कहा कि, हे पुत्रियो! इस समय तुम तीनोंके अंतस में जो अभिलाषा है वह परमेश्वर पूरी करेगा।

यह सुनकर वे तीनों बाबाजीसे बिदा हुईं और आपस में पूछनेलगीं कि तुमने क्या मनोरथ कियाहै? उनमेंसे ब्राह्मण की कन्या ने कहा कि मैंने तो यह मनोरथ किया है कि मुझे पण्डित और ज्ञानी पुत्र मिले। दूसरी क्षत्रिय की कन्याने कहा कि मेरी तो यह अभिलाषा है कि मेरा पुत्र बड़ा शूरवीर हो। और तीसरी वैश्यकी कन्या ने कहा कि मेरी मनोवाञ्छा यहहै कि मेरा पुत्र न तो पण्डित हो और न शूर हो, परंतु धनवान् हो। इस पर जिसने पण्डित पुत्र की अभिलाषा की थी वह विद्या को प्रधान कहती थी, जिसने वीर पुत्र चाहा था वह शूरता को उत्तम कहती थी और जिसने धनवान् पुत्रकी लालसा की थी वह यही कहती जाती थी कि धन सर्वोपरि है।

जब इस बातका विवाद बहुत बढ़गया, तब वह कन्या,

जो धनको प्रधान कहती थीं, बोली कि अभी इसका विवाद करना व्यर्थ है। हम तीनों यदि जीती रहेंगी और परमेश्वर सबका मनोरथ पूरा करेगा तो यह विवाद किसी कालान्तर में निवृत्त हो जायगा। यह बात सबको अच्छी लगी और जैसी उन तीनों की संगति और मैत्री माँ के घर में थी, वैसीही ससुराल में भी बनी रही—क्योंकि तीनोंका ब्याह भी एकही गाँवमें हुआ। इससे वहाँ भी उनका परस्पर मिलाप रहता था।

कुछ समय बाद थोड़ेही दिन घट-बढ़ कर तीनों के एक-एक पुत्र हुआ और जैसा तपस्वी का आशीर्वाद था वैसाही हुआ अर्थात् एक का पुत्र विद्वान् और बुद्धिमान्, दूसरीका शूरवीर और तीसरीका धनवान् तथा भाग्यवान् हुआ। फिर ऐसा संयोग आपड़ा कि उन तीनों लड़कोंमें भी बालपनसेही बहुत प्रीति होगई। जब तीनों सयाने हुए तब धनवान् पुरुष उस विद्वान् और वीरको बंधान नियत करके अपने साथ रखता था और उनके परिवारके भोजन-वस्त्र की भली-भाँति सुध लेता था।

एक समय ऐसा हुआ कि पण्डित धनवान् के घर पर कुछ कथा-पुराण सुना रहा था, शूरवीर हथियार बाँधेहुए डेवढ़ी पर बैठा था और धनवान् कथा सुन रहा था। उस अवसरमें तीनोंकी मातायें भी थीं कि जिन्होंने तपस्वी का आशीर्वाद पाया था। पण्डित और शूरवीरकी माता पूर्व-समयकी बातें भूल गई थीं। परंतु धनवान् की माताको उस बात का स्मरण बना रहा। क्योंकि वह पहिले कह चुकी थी कि समयान्तरमें इसका विवाद निवृत्त होजायगा। तब उचित समय पाकर अपनी दोनों सखियोंसे बोली कि

तुम दोनोंको किसी पुरानी बात की सुध है या नहीं? उन्होंने कहा कि हमें कुछ स्मरण नहीं आता। तब उसने ब्राह्मणकी कन्या से कहा कि जब हम तीनोंको तपस्वी का वर मिला था, उस समय यही झगड़ा हुआथा। तुम कहती थीं कि विद्या बड़ी है, यह कहती थीं कि शूरता बड़ी है और मैं कहती थी धन बड़ा है। यह मैं कुछ अभिमान से नहीं कहती। केवल तुम्हारे जानने के लिए जैसा कि मैं पहिले भी कह चुकी हूँ तुम दोनों न्याय से विचारांश करो कि तुम्हारा पुत्र जो कथा कहता है, इनका पुत्र जो हथियार बाँधे बैठा है और मेरा पुत्र जो सबका सन्मान किए हुए कथा सुन रहा है,इनमें से कौन स्वाधीन है, कौन पराधीन और किसको प्रधानता है। यह बात सुनकर वे दोनों चुप होगईं और यह बात पण्डितके कान तक पहुँची। तब वह बोला कि प्रधानता विद्या, शूरता और धनाढ्यता तीनों की है। परंतु पाण्डित्य और शूरत्व की प्रधानता विशेष अवस्था में है। धनाढ्यताकी प्रधानता सब अवस्था में है जैसे नीति में लिखा है—

श्लोक।

वयो वृद्धास्तपो वृद्धा ज्ञानवृद्धास्तथैव च;
सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किङ्कराः॥

अर्थात् अवस्थावृद्ध, तपवृद्ध, और ज्ञानवृद्ध लोग, धनवृद्ध के द्वार पर आज्ञाकारी होकर रहते हैं। जैसा भर्तृहरिने भी कहा—

श्लोक।

जातिर्यातु रसातलं गुणगणस्तस्याप्यधो गच्छतात्;
शीलं शैलतटात् पतत्वभिजनः संदह्यतां वह्निना।

शौर्य्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोस्तु नः केवलं ;
येनैकेन विना गुणास्तृणलवप्रायाः समस्ता इमे ॥

जाति रसातल को चलीजाय, गुणों के समूह उसके और नीचे महातल को चले जायँ, शील पहाड़ से नीचे गिरपड़े अर्थात् चूर चूर होजाय, परिवार अग्निसे भस्म हो जाय और शूरतारूपी शत्रु पर वज्र गिरे किन्तु, एक केवल धन बचा रहे; जिसके विना सम्पूर्ण गुणों के समूह तृणके किनके से भी लघु होजाते हैं ।

तानीन्द्रियाणि सकलानि तदेव कर्म;
स बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव;
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥

वे ही सारी इन्द्रियाँ हैं, वेही कर्म हैं, वही अप्रतिहतबुद्धि है और वही वचन हैं, परंतु धन की उष्णता से रहित वही पुरुष एकही क्षण में औरका और होजाता है । यह विचित्र गति है ।

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः;
स पण्डितः सः श्रुतवान् गुणज्ञः ।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः;
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥

जिसके धन है, वही मनुष्य कुलीन, वही पण्डित, वही गुणवान्, वही गुणज्ञ, वही वक्ता और वही दर्शनीय—अर्थात् देखनेके योग्य होता है—क्योंकि सम्पूर्ण गुण सुवर्णके आश्रय में रहते हैं । ऐसा ही और किसी कवि ने कहा है—

धनेनाकुलीनाः कुलीना भवन्तिः
धनैरापदो मानवा दुस्तरन्ति ।
धनेभ्यो न किञ्चित् सुहृद्वर्त्ततेऽन्यो
धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥

धन से अकुलीन भी कुलीन हो जाते हैं और धनकी सहायता पाकर मनुष्य विपत्तियों से पार होजाते हैं। धनसे बढ़कर कोई हितू नहीं है । इसलिए धनको इकट्ठा करना चाहिए । इस प्रकार की बातें सुनकर पण्डित और शूरवीर की माता लज्जित हुई और कहनेलगीं कि वास्तव में इसने जो कहा था वही बात ठीक हुई। इतना बड़ा पण्डित और ऐसा शूरवीर धनवान्के आसरे में रहता है । तो सबसे बड़ी प्रधानता धनवान्की ही हुई। उसी समय स्त्रियों ने यह वचन कहा कि—

दोहा ।
नहिं पण्डित नहिं वीरवर, सुत होवे धनवान ।
भाग्यवान के द्वारपर, रहैं कतिक गुनवान ॥

दशम तरङ्ग।

बुद्धि और चतुरता।

प्रथम उपाख्यान

किसी समय एक धनवान् और बुद्धिमान् मनुष्य में विवाद होगया। धनवान् कहता था कि धन बड़ा है और बुद्धिमान् कहता था कि बुद्धि बड़ी है। इसका समाधान भी कहीं न होता था। क्योंकि कोई धनको प्रधान कहता और कोई बुद्धिको।

निदान जब कहीं तय न हुआ तो दोनों अपने देश-पति राजाके पास गए और प्रार्थना की कि हम दोनों का निबटारा कर दिया जाय। यह प्रार्थना सुनकर राजाने दोनों मनुष्योंसे पूछा कि इस विवाद में तुम दोनों में क्या प्रण ठहरा है। तब दोनोंने कहा कि पृथ्वीनाथ ! यदि बुद्धि छोटी ठहरे तो बुद्धिमान् को जन्मभर के लिये धनवान्की आधीनता स्वीकार करनी होगी, और यदि धन छोटा ठहरे तो धनवान् को अपना आधा धन बुद्धिमान् को देना होगा और जन्मभर उसकी आज्ञा मानना होगा।

यह नियम-पत्र लिखवाकर दोनों के हस्ताक्षर कराकर राजाने दोनों मनुष्यों को एक चिट्ठी देकर दूसरे देशके राजाके पास भेज दिया और कह दिया कि वहाँ पर तुम्हारा निबटारा होजायगा।

यह आज्ञा मानकर वे दोनों उस राजाकी सभामें पहुँचे और राज-पत्र दिया। राजाने पत्र खोलकर पढ़ा तो उसमें लिखा था कि इन दोनों मनुष्यों का पहुँचतेही शिर कटवा डालना। कुछ सोच-विचार न करना। यह आशय देख राजा बहुत आश्चर्य में हुआ और अपने मंत्रीसे पूछा कि इस कार्य में क्या करना चाहिए। जैसा पत्र में लिखा है वैसाही किया जाय, या कुछ विचार करना आवश्यक है? मंत्रीने कहा पृथ्वीनाथ! इस कार्य में क्या मुख्य है जितने कार्य उपस्थित हों चाहे स्वदेशी कार्य हों चाहे परदेशी हों, उन सबको विचार करके करना चाहिए। क्योंकि आतुरता करने से पीछे पछताने का डर रहता है।

चौपाई।

सहसा करि पाछे पछिताहीं: कहैं चतुर ते बुध-जन नाहीं।

इसलिए विचारकर कार्य्य करना अच्छा होता है। विशेष करके उन कार्य्योंको कि जिनका कारण और भेद न विदित हो—जैसे यह कार्य्य है कि इन्होंने कौनसा अपराध किया कि जिससे वधके योग्य हुए और इसका क्या कारण है कि वहाँ न मारे गए और यहाँ मारे जायँ। यह शब्द जो पत्र में लिखा है कि विना विचारे तुरंत मारडालना, अधिक संदेह का है। इसलिए जैसा मेरी लघुबुद्धिमें आता है, वैसा निवेदन करता हूँ कि इन दोनों को पत्र का आशय सुनाकर कह दिया जाय कि इतने दिन के भीतर इस चिट्ठीके अनुसार तुम दोनोंका वध किया जायगा और दोनों पहरे में रक्खे जायँ। फिर पीछेसे जैसा उचित होगा वैसा किया जायगा। इस अन्तर में इन मनुष्यों की चेष्टासे भी कुछ वृत्तान्त खुल जायगा।

राजाने मंत्रीकी इस बातको स्वीकार कर लिया और हुक्म हो गया कि उनको आज्ञा सुना दीजाय । तब उन दोनों को यह आज्ञा सुनाई गई कि इतने दिनके भीतर तुम्हारे दोनों के शिर काटे जायँगे, और हुक्म होगया कि जो कुछ खाना-पीना और सुख करना अभीष्ट हो, सो इस बीच में करलो।

तब बुद्धिमान् मनुष्य धनवान्से एकांत में बोला कि कहो भाई, अब हमारे-तुम्हारे शिर काटने की आज्ञा हो चुकी जो कुछ उपाय करना हो सो करो। धनवान् बोला कि जो किसी अधिकारीके निकट काम होता तो मेरी सामर्थ्य थी कि जितना धन माँगता, उसे देकर जीव बचालेता। परन्तु अब राजाकी आज्ञा होचुकी, तो मेरा धन निष्प्रयोजन है और मैं कुछ नहीं कर सक्ता। मैंने व्यर्थ अभाग्य-वश होकर विवाद किया कि जिसके कारण ऐसे प्राण-संकट में आपड़ा। अब भाई, जो तुम्हारी बुद्धिका कुछ बल चले, तो कोई उपाय करो नहीं तो व्यर्थ प्राण जाना चाहते हैं । जो इससमय प्राण बच जायगा तो तुम्हारा जन्मभर गुण मानूँगा और अपना भाई जानूँगा । क्योंकि जो आपत्ति-काल में बचाता है और साथ देता है वही भाई है । जैसा चाणक्य ने कहा है—

श्लोक ।

आपत्काले महत्यर्थे, दुर्भिक्षे शत्रुविग्रहे ।
राजद्वारे श्मशाने च, यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥

विपत्तिकाल में, बड़े प्रयोजन में, अकाल में, लड़ाई में, राजद्वार में और श्मशान में जो साथ दे वही भाई है । सो इस प्राण-संकट से अपने और मेरे प्राणों को बचाइए । मुझसे जैसी मूर्खता हुई उसका फल भोगना पड़ा । मैंने ऐसा

झगड़ा क्यों किया बुद्धिमान् और धनवान् के छोटे-बड़े होने से मेरा क्या प्रयोजन था क्योंकि—

श्लोक।

यस्मिन् कर्मणि सिद्धेऽपि लभ्यते न फलोदयः।
असिद्धेऽपि महद्दुःखं तद्बुधः कथमाचरेत्॥

जिस कामके सिद्ध होनेपर भी कुछ फल न मिले और असिद्ध होने में महादुःख हो तो उस कामको ज्ञानी क्यों करे?

धनवान् का इस प्रकारका विलाप सुनकर बुद्धिमान् बोला कि तुम शोच न करो। ईश्वर चाहेगा तो तुम्हारा जीव बच जायगा। परंतु अपने हाथसे लिखदो कि धनसे बुद्धि बड़ी है। यह बात सुनतेही धनवान्ने झटपट लिख दिया और कहा भाई! तुम शीघ्र उपाय करो। बुद्धिमान्ने कहा कि उपाय तो मैं अभी करता हूँ, परन्तु तुमसे कोई कुछ पूछे तो तुम कुछ न कहना और हमारे ऊपर रखदेना। इस प्रकार आपसमें सम्मत करके बुद्धिमान्ने पहरेवाले के पास जाकर कहा कि भाई, हमको कुछ प्रार्थना करनी है। राजसभा में लेचलो। जब वह राजसभा में लेगया तब बुद्धिमान् साष्टांग दण्डवत् करके बोला कि महीनाथ! हम दोनों मनुष्य जिसलिए यहाँ आए हैं, वह बात क्यों नहीं की जाती। इतने विलंब होनेका क्या कारण है? हमारे राजाकी आज्ञा का पालन हो या हम अपने राजाके यहाँ लौटा दिये जायँ।

मंत्री ने कहा कि तू बड़ा निर्बुद्धि है जो अपना शिर कटवाने की प्रार्थना करता है। वह बोला कि मैं अपने स्वामीकी आज्ञाको मुख्य समझता हूँ और कुछ नहीं जानता। यह

बात सुनकर मंत्री बोला कि तीन दिन तक और क्षमा करो। फिर जैसा होगा वैसा किया जायगा। इसके अनन्तर राजा और मंत्री एकांत में बैठकर सम्मत करने लगे कि क्या कारण है जो यह अपने आप मारेजाने की प्रार्थना करता है। मंत्री ने कहा कि महीनाथ! मैंने तो पहिले ही कहाहै कि इस कार्य में कोई बड़ा कारण है। नहीं तो, प्राण सभी को प्रिय होते हैं। कोई प्राणोंका नाश नहीं चाहता। पर कोई शोक की बात नहीं है। अब इसका निश्चय, जिसप्रकार होसकेगा, मैं बहुत शीघ्र करके आपसे निवेदन करूँगा।

इसके अनन्तर मंत्रीने कई भेदियोंको उन दोनों का भेद लेने के लिए भेजा। परंतु उन्होंने किसीसे कुछ नहीं कहा। अंतमें मंत्री स्वयम् गया और बड़े आदर सन्मानसे बोला कि यदि तुम भेद बतलादोगे तो जो चाहोगे वही पदार्थ मिलेगा। निदान बुद्धिमान्ने एकांतमें मंत्रीसे कहा कि हमारा राजा तुम्हारा राज्य लेने के उपाय में बहुत दिनसे था। पर कोई उपाय नहीं चलता था। थोड़े दिन हुए कि ज्योतिषियों ने हम दोनोंमें कोई ऐसा लक्षण विचार किया है कि इन दोनों मनुष्यों का जहाँ वध किया जायगा वह राज्य नष्ट होकर तुम्हारे अधीन होजायगा। इसके अनन्तर राजाने हम दोनोंको बुलाकर समझाया और पीढ़ी दर पीढ़ी के लिए जीविका नियत करके हम दोनोंको प्रसन्न किया और यहाँ को भेज दिया। यह बात सुनकर मंत्रीने जाकर राजासे कहा। राजाने बुद्धिमान को बुलाकर बहुत प्रशंसा की और कहा कि तुम्हारी स्वामिभक्ति और शुभचिंतकतासे मैं बहुत प्रसन्न हूं। इसके अनन्तर राजाने बुद्धिमान् को एक लाख रुपया और कुछ धनवान् को भी

पारितोषिक देकर और बहुतसे मणि रत्न और उत्तम-उत्तम वस्त्राभूषण पहिनाकर और उन दोनोंको हाथीपर चढ़ाकर बिदा किया। राजाको पत्रके उत्तरमें लिख दिया कि हमारे यहाँ अपराधके निश्चय विना वध नहीं होता। जब वे दोनों अपने देशाधीश राजा के पास पहुँचे तब राजाने पूछा कि तुम्हारा न्याय होगया या नहीं। उन दोनोंने कहा कि हाँ पृथ्वीनाथ! होगया। फिर दोनोंने पहिले लिखने के अनुसार बर्ताव किया। जैसा कि लिखा है कि—

सोरठा।

जन धन से जो हीन, हीन न ताको कहत बुध।
विद्या-बुद्धि विहीन, हीन वही सब वस्तु में ॥

द्वितीय उपाख्यान।

दक्षिण देशमें समुद्र तटपर रत्नाकर नामके नगरमें एक मर्कटमुख नामका वृद्ध महाजन था। उसकी तरुण स्त्री का नाम मनीषा था। किसी समय रात्रि में उसके घर दस्यु-दल आया और उसके सेवकों को घायल करके निकम्मा कर दिया। घरके स्वामीको बुढ़ापेने पहिलेहीसे अशक्त कर रक्खा था। उसकी स्त्री मनीषा धीरताको धारणकर हाथमें दीपक लिए हुए डकैतों के समूह में आकर बोली कि मेरा पति ऐसा वृद्ध है कि इसके साथ मेरा जन्म व्यर्थ जाता है और नरक से अधिक पीड़ा होती है। मैं बहुत दिनसे घबराहटमें थी। परन्तु इस पिशाच के चंगुल से निकलने नहीं पाती थी। यह कैसा अच्छा संयोग हुआ कि तुम मुझको दीखपड़े। अब तुम में से मैं जिसको अच्छी लगूँ उसके साथ रहने पर मेरी

प्रसन्नता है । मेरे घरमें अगणित धन सम्पत्ति है । यह सब उठा ले चलो, जिससे जन्मभर आनंद करें ।

उसके रूपको देखकर सब दस्यु मोहित होगए और आपसमें झगड़नेलगे । एक कहता था, कि यह मेरे साथ रहेगी; दूसरा कहता था, कि मेरे साथ । तब मनीषा ने कहा कि यहाँ मत झगड़ो । अपने घर चलके जैसा उचित जानना, वैसा करना । यहाँसे शीघ्र धन उठाओ और बाहर निकलो । ऐसा न हो कि कोई आनकर पकड़े । क्योंकि जो तुम पकड़े गए तो मेरा मनोरथ सिद्ध न होगा ।

जब डाकू लोग रुपए के संदूक का ताला तोड़ने लगे, तब वह स्त्री बोली, कि रुपया कहाँतक लोगे, चलो मैं अशर्फियों का ढेर बतला दूँ, कि जिससे बोझा थोड़ा और लाभ अधिक हो । निदान उन्हें तहखाने में लेचली । जब वे नीचे उतरने लगे तब मनीषा ने कहा, दो एक मनुष्य इस घर के द्वारपर भी रहो ऐसा न हो कि कोई शत्रु आजाय । उसकी शिक्षा को उचित जानकर दो डाकू द्वारपर चले गए । जब मनीषा बाकी डाकुओं-समेत तल-घर में पहुंचा और संदूक को खोलने लगी तो बोली कि, इसकी कुंजी ऊपर रक्खी हुई है तुम खड़े रहो मैं कुंजी लेआऊं । यह सब उसी जगह खड़े रहे । मनीषा कुंजी लानेको ऊपर निकली, तो द्वार पर जो खड़े थे, उन्होंने पूछा कि क्या बात है ? मनीषा ने कहा कि कुंजी लाने को जाती हूँ । तुम नीचे को देखो कितने संदूक अशर्फियों से भरे हुए हैं । जब वे नीचे को देखने लगे तो उसने धोखे में उन दोनों को ऐसा धक्का दिया कि वे दोनों नीचे गिर पड़े और उसी समय उसने तहखाने का द्वार जल्दीसे बंद करके एक

सूखी घास के ढेर में आग लगा दी, जिससे बहुत मनुष्य आग बुझाने के लिए इकट्ठे हो गए। उसने सब वृत्तांत प्रकट किया। सब डाकू पकड़े गए और उन्हें कठिन दण्ड दिया गया।

दोहा।

विपति परे बिचलै नहीं, जाकी बुद्धि महान।
तरत आपदा कोटि विधि, वह बिनु संशय जान॥

तृतीय उपाख्यान।

एक व्यापारी महाजनके तीन सेवक थे। एक का मासिक पाँच रुपया, दूसरे का पच्चीस रुपया और तीसरे का सौ रुपया था। जो पच्चीस रुपए पाता था वह सौ रुपयेवाले से डाह करता था कि काम मैं अधिक करता हूँ। यह व्यर्थ सौ रुपया मासिक लेता है। जो पाँच रुपये पाता था, वह यह कहता था कि काम मैं अधिक करता हूँ, ये दोनों फिर इतना रुपया क्यों पाते हैं और स्वामी ऐसा अन्धा है कि काम नहीं देखता। इस बात से सौदागर चिन्तित था, कि ये दोनों अभागे अपनी योग्यता नहीं देखते, एक दूसरे से जला करते हैं।

एक दिन अवसर पाकर महाजनने पाँच रुपएवाले भृत्यसे कहा कि देखो, यह नाव कहाँसे आती है और कहाँ को जायगी ? यह सुनकर वह गया और वहाँसे पूछ कर तुरंत लौट आया और कहने लगा कि अमुक नगरसे आती है और अमुक नगर को जायगी। सौदागर ने कहा कि उसमें क्या लदा है ? उसने कहा यह तो हमने नहीं पूछा। फिर पच्चीस रुपएवाले भृत्यको भेजा कि तुम पूछ आओ। जब वह पूछकर आया तो उसने कहा तुम क्या

पूछे आप ? उसने कहा महाराज, अमुक नगरका जो अमुक महाजन है, उसकी नाव है और उसीने भरती करके भेजी है। इसमें अमुक वस्तु लदी है । वस्तु अच्छे प्रकार की है और इतने दिन में जहाँ जाती है वहाँ पहुँच जायगी। सौदागर ने कहा कि केवल यही वस्तु लदी है या और कुछ और वह किस भावसे पड़ी है ? उसने कहा कि, यह तो मैंने नहीं पूछा। तब सौ रुपये मासिकवाले को बुला कर भेजा कि इस नावका समाचार ले आओ। वह जब वहाँ पहुँचा तब यथोचित अभिवादन करके बैठा और नाव के अधिकारीको बुलाकर उसका ब्यौरेवार वृत्तांत पूछा कि यह नाव कहाँसे चली है और कहाँ जायगी ? इसमें क्या क्या वस्तु लदी है ? वह तुम्हें भरती में क्या भाव पड़ी है ? कितना व्यय यहाँ तक आने में पड़ा है और यदि कोई बीच में ही लिया चाहे तो बेच सकते हो या उसी स्थानमें पहुँचकर बेचोगे ? यह बात सुनकर नौकाके अधिकारी ने जो बातें उसने पूछीं सब बतलादीं और यह कहा कि उस स्थानपर बेचने का हमारा नियम नहीं है । जहाँ कहीं बिके हम बेच डालेंगे। इसके अनन्तर जब दोनों में भाव ठहर गया तब सौदागर के नौकरने नौकाधिकारी से बिक्री लिखवा कर उसे बयाना दे दिया और अपनी वस्तु उतारने का उपाय कर रहा था कि दो एक अन्य व्यापारियोंने आकर नौका के अधिकारी से वस्तु लेनेकी प्रार्थना की । उसने कहा कि मैंने तो सब नौकाओंकी सामग्री बेच डाली। इसका स्वामी वह मनुष्य है चाहे बेचे या न बेचे। तब उन्होंने व्यापारी के नौकर को आ घेरा और कहने लगे कि हमें बड़ी आवश्यकता है। आप अपना लाभ निकाल

कर वस्तु हमको दे दो तो बड़ा अनुग्रह हो। निदान उसने सवाया लाभ लेकर सामान बेच डाला और अपने लाभकी हुंडी लेकर अपने स्वामी के निकट आया; सब समाचार सुनाकर पीछे से हुंडी सौंपदी और कहा कि यह पच्चीस सहस्र रुपया आप को लाभ में मिला है। इसके अनन्तर उस महाजन ने पच्चीस रुपए और पाँच रुपये महीने के नौकरों को बुलाकर कहा कि यह घंटे डेढ़ घंटे के भीतर पच्चीस सहस्र रुपया लाया। इसलिए मैं इसे सौ रुपया मासिक देता हूँ। अब ऐसा डाह कभी करोगे तो अपनी नौकरी से भी छुड़ा दिए जाओगे। यह सुनकर दोनों ने लज्जित होकर मुँह नीचा कर लिया।

दोहा।

राम झरोखे बैठि कै, सब का मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय॥

चतुर्थ उपाख्यान।

एक राजा के साथ दो ब्राह्मण रहते थे। एक पण्डित और दूसरा मूर्ख था। राजा पण्डित का विशेष आदर करता था और मूर्ख का थोड़ा। इस कारण मूर्ख पण्डित से सदैव द्वेष करता था। जब यह बात राजा को विदित हुई कि यह पण्डित से डाह करता है तो एक दिन राजा ने मूर्ख ब्राह्मण को बुलाकर हाथ में थोड़ी राख दे दी और कहा कि यह हमारे बड़े महाराजाधिराज को दे आओ। वह मूर्ख ब्राह्मण वहाँ गया और महाराजा के हाथ पर राख रख कर कहा कि यह हमारे राजा ने भेजी है। राजा ने पूछा कि यह कैसी राख है? उसने कहा कि यह तो मैं नहीं जानता। यह सुन राजाधिराज ने क्रोध से पूरित हो

उसे निकलवा दिया और अपने मंत्री से कहा कि जान पड़ता है कि उस राजा ने हमारे प्रतिकूल हो अनादर की भाँति हमारे पास राख भेजी है। अतः शीघ्र सेना सजाकर उसपर चढ़ाई करनी चाहिए।

यह समाचार छोटे राजा के पास बहुत शीघ्र पहुँच गया। फिर राजाने पण्डित को बुलाकर उसी प्रकार राख दी और कहा कि हमारे महाराज को देआओ। तब पण्डित ने यह यत्न किया कि एक थार में सुनहरे कपड़े बिछवाकर और रंग-रंग के फूलों से सजाकर उसपर चांदी के कटोरे में राख को रखकर उसको सुनहरे कपड़े से ढँककर बड़े आदर से लेगया। पहिले श्लोक पढ़कर उस राख का माहात्म्य वर्णन किया। फिर पीछे से कटोरा निकालकर महाराज के निकट रखादिया। राजाने पूछा यह क्या वस्तु है? पण्डित ने कहा महाराज हमारे राजा के यहाँ बड़ा पुनीत यज्ञ हुआ है। उसकी यह विभूति आपके निकट राजा ने भेजी है। इसको आप ग्रहण करें। यह सुनकर राजा ने उसको उठाकर अपने शिर से लगाकर पवित्र स्थान में रखवा दिया और कहा कि हमारे पास एक और मनुष्य भी तो लाया था। पण्डित ने कहा महीनाथ! कोई छली होगा। हमारे राजा ने तो मुझी को भेजा है। यह बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा कि अच्छा हुआ कि तुम आए; नहीं तो उस मूर्ख के अनाचार के कारण हम तुम्हारे राजा पर बहुत अप्रसन्न थे। इसके अनन्तर राजा ने बहुतसा धन-रत्न देकर बिदा किया और अपनी ओरसे रीत्यनुसार उस विभूति का धन्यवादपत्र लिख भेजा।

तब वह राजा मूर्ख को बुलाकर कहने लगा कि देखो कि तुमने जाकर हमारे महाराज से विरोध करा दिया था और इस पण्डित ने जाकर प्रसन्न किया और हमारे पास यह धन्यवाद पत्र आया। पण्डित की यह चतुरता और शुभाचार ही उनका आदर कराता है। यह सुनकर मूर्ख ने लज्जित होकर शिर नीचे कर लिया और कुछ न कहा।

दोहा।

सबगुण पण्डित में बसैं, मूरख केवल दोष।
याते मूर्ख सहस्र में, चतुरहिं एक विशेष॥
जहाँ न गोली तीर गति, कछु न करै तरवारि।
तहाँ चतुर नर बुद्धि ते, सकल आपदा टारि॥

पञ्चम उपाख्यान।

दो मनुष्य कोई खेल खेलते थे। उनमें यह प्रण था कि जो जीते वह हारनेवाले के घर में जाकर जिस वस्तु को पहले हाथ से पकड़े उसी को ले ले। निदान जब दोनों में से एक हारगया तो जीतनेवाले की अभिलाषा यह हुई कि हारनेवाले की स्त्री को जाकर पकड़ लूँ। हारनेवाला इस बात से बहुत घबरा गया। उसने किसी बुद्धिमान् से उस बात की चर्चा की कि मैं बड़ी आपदा में पड़ा हूँ। मेरी स्त्री को अमुक मनुष्य लिया चाहता है। तब बुद्धिमान् ने कहा कि यदि तेरी स्त्री को मैं बचा दूँ और तेरे खेल में भी खराबी न हो, तो तू क्या देगा? उसने कहा भाई जो तू कहे वही दूँगा।

निदान वह कुछ प्रमाण ठहराकर उस हारनेवाले के घर में गया और उसकी स्त्री को कोठेपर चढ़ाकर सम्मुख

खड़ी कर, एक काठ की सीढ़ी लगा दी और कहा कि उस जीतनेवाले को बुलाओ। तब हारनेवाले ने जीतनेवाले से कहा कि भाई जो तुम्हारे जी में आए चलके घर में ले लो। जीतनेवाला प्रसन्न होकर भीतर घुस आया और इधर-उधर देख उसकी स्त्री को लेने के लिए कोठे पर चला। जैसेही उसने सीढ़ी के डंडे को हाथ से पकड़ा बुद्धिमान् ने कहा बस तुम्हारी वस्तु मिल चुकी। जिस सीढ़ी के डंडे को तुमने पहिले हाथ से पकड़ा इसेही लेजाओ; क्योंकि तुम्हारा इससे यही वचन ठहरा था कि जिस वस्तु को पहिले हाथ से पकड़ें उसे ले लें। तुमने सीढ़ी का जो डंडा पहिले पकड़ा है उसे छोड़कर अब आगे कहाँ जाते हो। वह इस बात को यथार्थ समझ लज्जित हो अपने घर चला गया।

एकादश तरङ्ग।

अभिमान की अवहीनता।

उपाख्यान।

दक्षिण देशमें अभिमानवसु नाम का एक राजा था। वास्तव में जैसा उसका नाम था वैसाही उसका काम था—अर्थात् वह अभिमानही को वसु अर्थात् धन समझता था। राज्यश्री के उमंग में राजाओं के बंधन या मोक्ष और दरिद्र या धनवान् करने की जो सामर्थ्य होती है वह उसमें भी थी। वह यह कहा करता था कि हम से बढ़कर और कौन है कि जिसको लोग ईश्वर कहते हैं।

एक दिन अपनी सेना समेत वह वनमें अहेर खेलने को गया। वनांतर में एक काला हरिण दिखाई दिया और राजा ने उसके पीछे घोड़ा दौड़ाया। पर वह ऐसे बेगसे भागा कि राजा और उसके साथी सवार उसको इतनी दूरपर न पासके कि उसपर अस्त्र चलाते। निदान वह बहुत दूर जाकर ऐसा छिपा कि उसका पता न लगा। तब राजा एक जलाशय पर जाकर लोगोंको बाहर खड़ाकर अपने कपड़े उतारकर पानीमें पैठकर नहाने लगा। ज्योंही उसने डुबकी मारी उसीके अनुहार एक पुरुष अनाहूत प्रकट होकर उसके वस्त्र पहिनकर घोड़ेपर सवार हो चल दिया। और सब सिपाही अपना राजा समझकर पीछे हो लिए। जब वह राजा जलसे बाहर निकला और घोड़े की ओर दृष्टि डाली तो न कहीं घोड़ा पाया, न जोड़ा और न घोड़े

का कोड़ा। अपने आपको वस्त्र-शस्त्र-रहित निर्जनवनमें देखकर मनमें घबड़ाने लगा।

निदान सोच-विचारकर वहाँ से निकट उसका एक सूबा था उसके पास गया कि वहाँसे कपड़ा और वाहन लेकर राजधानी को जाय। जब वहाँ गया तो पहरुओं से कहा कि तुम अपने स्वामी को जनादो कि तुम्हारा राजा आया है। यह बात सुन द्वारपालने भीतर जाकर सूबासे कहा कि द्वारपर एक मँगता विना वस्त्रके खड़ा है। वह कहता है कि मैं राजा हूँ। यह सुनकर सूबेदार ने भीतर बुलाकर एक पुराना अँगरखा दिलवादिया कि यह दुखिया विना वस्त्र है इसे पहिनने को देदो। इसे मक्खियाँ काटती होंगी। तब राजा ने कहा कि तू बड़ा कृतघ्न है। मैं तेरा राजा हूँ तू नहीं पहिचानता। अभी थोड़े दिन हुए मैंने तेरी इतनी पदवी बढ़ाई है। अच्छा सचेत रहना, थोड़ेही दिनमें हम तुझे बड़ा दंड देंगे। यह बात सुनकर सूबेदार ने सिपाहियों से कहा कि इस बदमाश पागल को बाहर लेजाकर भली भाँति कोड़ोंसे मारो, और खाईमें डाल दो। भीख नहीं लेता, राजा होनेको मरा जाता है। जानता नहीं कि महाराजा को तो मैं अभी पहुँचाए चला आता हूँ। जब राजा ने बहुत मारखाई तब अपने कर्मके लिए पछताने लगा और कहा कि कैसा समय आया। सबही सब अपने अहितू होगए। इसके पीछे मंत्री के घर पर गया और कहला भेजा कि हम तुम्हारे राजा हैं। लोग कहने लगे कि मन्त्रीजी भी महाराजा के निकटसे चले आते हैं तू कहाँ का राजा है। सीधी रीति से भीख नहीं माँगता। घमंड दिखाता है। उसकी दशा देख

मंत्रीको दया आई और कहा कि यह भूख-प्यास से विकल है। यह जो खाए वह खिलाकर और पानी पिलाकर बाहर निकाल दो।

जब वहाँ से भी निकाला गया तब विचारा कि अपनी रानी के यहाँ जाऊँ। देखूं वह पहचानती है या नहीं। तब रानी की ड्योढ़ी पर जाकर प्रकट किया कि रानी से कहदो कि तुम्हारे राजा खड़े हैं। वहाँ जो लोग बैठे थे वह कहने लगे कि तू बड़ा अभागा है। हमारे राजा तो महारानी समेत भोजन करते हैं। तू कहाँ का राजा है? पर किसी ने जाकर भीतर कह दिया कि द्वारे पर एक पागल कहता है कि हम राजा हैं। यह सुन उस कृत्रिम राजा ने बुलाकर पूछा कि तू अपने को राजा कहता है वह बोला कि क्या हम राजा नहीं हैं? तब तो कृत्रिम राजा ने रानी से कहा कि देखो तो तुम्हारा राजा मैं हूँ या यह है। रानी बोली कि राजा आप हैं इसको हम क्या जानें। इसके पीछे सब सभासदों को बुलाकर कहा कि तुम लोग पहचानो कि तुम्हारा राजा यह है, या मैं। सब बोले कि महाराज निस्संदेह आप हमारे राजा और पृथ्वीनाथ हैं। हम इसे नहीं जानते कि यह दरिद्ररूपी अभागा कहाँ से राजा होने आया है। इसके पीछे कृत्रिम राजा ने विपत्तिग्रस्त राजा को भीतर से निकलवा दिया और कहा कि इसको कोड़ों से पीटकर कोट से बाहर निकाल दो। जिस समय वह कोट से निकाला गया उसी के पाले हुये कुत्ते और बाज़ उसी को काटने दौड़ते थे। जब कोड़ों की मार खाकर बाहर निकला तब अपने जन्म पर रोकर पछताने लगा कि इस जीने से मरना ही अच्छा है कि सब हितू

मित्र वैरी हो गए। यहाँ तक, कि मेरी रानी मुझे नहीं पहचानती। अब कहीं जानेका ठिकाना नहीं है। केवल गुरुका स्थान रह गया है। वहाँ जाकर देखूँ कि वे क्या कहते हैं। जब गुरुके स्थान पर जाकर पुकारा कि स्वामीनारायण मैं आपका चरणसेवक राजा हूँ। चरणारविंदके दर्शन के लिए खड़ा हूँ। गुरुने जब खिड़की खोलकर देखा तो भाग्यहीन और श्रीहत एक दरिद्र रूप मनुष्य खड़ा था। उसकी दशा देखकर गुरुने क्रोध-युक्त होकर कहा कि हे पिशाच-रूप जगत्के दुःख-दायी! यहाँसे दूर हो, मुझे मत सता। इसप्रकार गुरुके मुखसे अनादर और तुच्छ वचन सुनकर राजा दुःखमें अधिक विकल होगया और कहने लगा कि यह अच्छा होता कि पृथ्वी फट जाती और मैं समा जाता। इसप्रकार जीनेसे मरना कितना उत्तम है।

उस समय राजाको सुध आई कि यह विपत्ति मेरे उस अभिमान का फल है जो मैंने राज-मद में पड़कर अपने को छोड़ दूसरे को नहीं समझा। यहाँ तक कि मेरे मनमें ऐसी कुतर्क जम गई कि लोग मुझको छोड़कर दूसरे को ईश्वर क्यों जानते हैं। जब मैंने ईश्वराभिमानी होकर प्रभुको बिसार दिया तब मेरे समान और कौन पतित होगा? धन्य हे प्रभु दीनबंधु करुणासिंधु आपको धन्य है कि ऐसी औषधि करके अभिमानरूपी रोग को आपने दूर किया। अब अपराध क्षमा करके ऐसी सामर्थ्य दीजिए कि चरणारविंद का भजन करूँ। अब मेरी चूकपर दृष्टि न करो। मैं तुम्हारी शरण हूँ; इस प्रकार ईश्वर को ध्यान करके फिर गुरुकी स्तुति करने लगा कि हे लोक परलोक

क सुधारनेवाले गुरुदेव ! मुझ विपत्ति-ग्रस्त पर कृपादृष्टि करके पहचानो । तुम्हारे अनादरसे मेरा कहीं ठिकाना न लगेगा। इस प्रकार परमेश्वर का ध्यान करके जब राजा ने गुरुकी बिनती की तो हृदय-प्रेरक भगवान् ने गुरुकी मति फेर दी। उसने पहचाना कि यह तो वास्तव में राजा है। फिर गुरु ने अपने पाससे उस भिक्षुक रूपी राजा को कपड़े पहिनाया और साथ लेकर राजमंदिर को चला। उस समय जो देखता था वह राजाको प्रणाम करता था।

जब राजा भीतर गया तब कृत्रिम राजाने भी आदर से उसका स्वागत किया और सबको बुलाकर पूछा कि तुम लोग हम दोनों में से पहिचानो कि तुम्हारा मुख्य राजा कौन है। सब लोग चकित होकर कहने लगे कि हमको दोनों स्वरूप एकसे दिखाई देते हैं। हम किसको मुख्य कहैं। तब कृत्रिम राजा ने कहा कि तुम्हारा राजा यही है। मैं नहीं हूँ। इसने जैसा अभिमान किया वैसा फल पाया। अब तुम सब इसकी आज्ञा मानो। यह तुम्हारा पालन करे।

इतना कहकर वह राज-रूप-धारी स्वर्ग-दूत दिव्यरूप बन राजाको साधुवाद देकर अंतर्द्धान होगया।

श्लोक।

अभिमानं सुरापानं, गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

उपाख्यान।

उद्दंडप्रताप नामी राजाकी सभा में सर्वज्ञ नाम एक ज्योतिषी ऐसा था कि अपनी विद्यासे भूत, भविष्यत्

और वर्त्तमान की बिना देखी बातें कह देता था। इससे सब लोग उसको बहुत श्रेष्ठ समझते थे। परंतु कारण यह था कि वह भी अपनी विद्या के अहंकार से अपने को बड़ा समझता था जैसा लिखा है कि—

तन-मद धन-मद राज-मद, विद्या-मद अन-हद्द।

एक दिन सभामें महाराजके निकट सबलोग उस ज्योतिषी की अत्यन्त प्रशंसा कर रहे थे कि महीनाथ! जैसा सर्वज्ञ आपके ज्योतिषी का नाम है, वैसाही गुण है। यह संपूर्ण पदार्थोंको अपनी विद्या के बलसे जान सकता है। इस बातको महाराज किंचित् आदर से सुनते थे। परंतु अंतस में वह बात प्रिय न लगती थी।

दोहा।

जो नृप प्रिय हिय बिनु लखे, अतिशय करे बखान।
होत प्रसन्न न भूप चित, वक्ता होत अजान॥

जिस समय उसकी विद्या के विषय में बातें होरही थीं वह भी सभामें आ पहुँचा। उस समय उसे उचित था कि नम्रता से बातें करता अथवा मौन हो रहता जिस से विद्याकी शोभा पाता। परंतु अभिमान-मदिरा ने उसे ऐसा मतवाला बनाया कि वह अपनी बड़ाई की बातको अच्छी समझ, बोला कि महीनाथ, मुझे अपनी विद्या का इतना भरोसा है कि यदि मुझ से प्रश्न होगा उसको यथार्थ कह सकूँगा।

यह बात सुन उद्दंडप्रताप राजाको बड़ा क्रोध आया और उसने यह प्रश्न किया कि अच्छा, कहो इन बारह द्वारों में से हम किस द्वार से होकर निकलेंगे। इस राज-प्रश्न को सुन ज्योतिषीने विचार करके प्रश्नफलको

एक पत्रपर लिख थैली में बन्द करके महाराजके निकट रख दिया और बोला कि पृथ्वीनाथ ! मुझे जो लिखना था सो लिख चुका। आप इच्छानुसार काम करके प्रश्नफल को देखें। यह बात सुन कर राजा तुरंत एक नया द्वार खुदवाकर बाहर निकल गया और बोला कि प्रश्नफल खोल कर पढ़ा जाय। जब प्रश्नफल खोलकर पढ़ा गया तो उसमें लिखा था कि महाराज एक नया द्वार खुदवा कर निकलेंगे। इस बात से राजा को लज्जा आई तथा साथही क्रोध और भय भी हुआ और सिपाहियों को यह आज्ञा दी कि यह मनुष्य सब भेद जानता है ऐसा न हो कि राजप्रबंध में कोई विघ्न उत्पन्न करे इस लिए सात खंडके कोठे पर चढ़ाकर इसे भूपिपर गिरादिया जाय।

दोहा।

नरपति होत सकोप जब, नहिं तब कोउ अपनाय।
होम करत हूँ मैं अगिनि, जारत जो छुइ जाय॥

उस समय अग्रसोची मंत्री ने ऐसा उपाय किया कि राजा की आज्ञा का बर्त्ताव भी हो जाय और उस विद्वान् गुणी का प्राण भी बच जाय। किसी समय क्रोध शांत होने पर उस गुणी के लिए राजा को बड़ा पछतावा हुआ कि मैंने क्रोध के वश होकर ऐसे दुर्लभ गुणी को मरवाडाला। यह मुझसे बड़ा अन्याय हुआ। उस समय मंत्री ने कहा कि हे जगत्रक्षक ! यदि मेरा अपराध क्षमा किया जाय तो कुछ कहूँ। राजा ने कहा कि अच्छा, कहो। मंत्री ने कहा कि जिस समय आपकी आज्ञा हुई तब मुझे आप की आज्ञाका पालन और उसके प्राण की रक्षा दोनों उचित जान पड़ीं। इसलिए जहाँ पर वह गिराया गया वहाँ नीचे

बहुत सी रुई और रोम भर के बोरे रखवा दिए थे। इससे जब वह गिराया गया तब उसका प्राण बच गया। केवल एक अंगूठे में चोट आगई। तब से उसे मैंने छिपा कर रक्खा है कि जब पृथ्वीनाथ स्मरण करेंगे तब प्रकट करूँगा।

यह बात सुन राजा बहुत प्रसन्न हुआ और उसको बुला कर कहा, कि तुमने यह नहीं विचार रक्खा कि तुम्हारी यह गति होगी। उसने कहा कि वर्षफल में अवश्य लिखा होगा जब उसका वर्षफल मँगाया गया तब उसमें जो कुछ होगया सब लिखा था। तब राजा ने उस से कहा कि सुनो ज्योतिषीजी! अभिमान करना सबके लिए अविहित और अनुचित है। परन्तु गुणियों के लिए विशेष अनुचित है। जिसके कारण तुम्हें इतना क्लेश हुआ। यह सुनकर ज्योतिषी ने अपना कान पकड़ा और कहा कि पृथ्वीनाथ! ऐसी चूक अब कदापि न होने पाएगी।

द्वादश तरङ्ग ।

हठकी अनिष्टता, और पश्चात्ताप ।

दोहा ।

पाँच सात की बात को, करत न जो हित-मानि ।
सो पीछे पछतात है, जिमि मंदोदरि रानि ॥

उपाख्यान ।

सिंहलदेश में एक राजा चन्द्रसेन परमधर्मिष्ठ न्याय-दंड-धारक, प्रजा-पालक, रणशूर और नीति-निपुण, था। उसकी रानी का नाम गुणवती था। वह परमधर्मपरायणा, पतिव्रता और संपूर्ण शुभ लक्षणों से संयुक्त थी। उसके प्रथम गर्भ में अतिसुन्दरी कन्या उत्पन्न हुई, जिसका नाम मंदोदरी रक्खा गया। कन्या का मनोहर रूप देखकर पिता का जी बहुत प्रसन्न हुआ और चन्द्रमा की कला के समान उसकी दिन-दिन वृद्धि होती रही।

जब दश वर्ष की हुई तब राजा, रानी और सारे राज-मंत्रियों और प्रधानों को उसके विवाह की चिन्ता हुई और चारों ओर वर देखने के लिए चतुर और बुद्धिमान् मनुष्यों को भेजा। जब वे सब देख-भाल कर लौटे तो उन्हों ने राजा से कहा हे पृथ्वीनाथ! मद्रदेश के राजा का पुत्र कम्बुग्रीव परमसुन्दर और बुद्धि-विद्या में अतिनिपुण है। आपकी कन्या के अनुकूल वही वर है। उसके साथ मन्दोदरी का ब्याह करना चाहिए। इस बात को सुनकर राजा ने रानी से सम्मत किया, तब रानी कन्या से बोली कि महाराजा तेरा ब्याह कम्बुग्रीव राजपुत्र से किया चाहते

हैं। माता के वचन को सुनकर मन्दोदरी ने कहा कि मुझे पति की अभिलाषा नहीं है। मैं व्याह न करूँगी। कौमारव्रत में स्थित होकर समय को तपस्या आदि सत्कर्म में बिताऊँगी और पराधीनता के दुःख में न पडूँगी।

चौपाई।

यक स्वतंत्र भल है जगमाहीं। पर अधीन सपनेहु सुख नाहीं॥
परबस नर सुख लहहिं न कबहूँ। राज भोग, सर्वस हो जबहूँ॥
साग खाइ चह दिवस बितावे। निज अधीन अतुलित सुख पावे॥

हे माता! विवाह के समय अग्नि को साक्षी देकर यह वचन कहना पड़ता है कि मैं दासीके समान पतिके आधीन रहूँगी। फिर ससुराल में सास, ससुर, देवर आदि की सेवा और पतिके चित्तानुकुल वर्तना पड़ता हैं। यदि कदाचित् पति दूसरी स्त्रीसे प्रीति करता है तो सौतिया-साल और ईर्षा का दुःख उत्पन्न होता है। स्वप्न-रूपी संसार में क्या सुख है? विशेष कर स्त्रियोंको, जो स्वभाव से पराधीन होती हैं। जैसा मनुस्मृति में लिखा है—

श्लोक।

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

बालपनमें पिता रखवाली करे, युवावस्थामें पति और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करे। स्त्री कभी स्वाधीन रहने के योग्य नहीं है।

मैंने सुना है कि उत्तानपाद राजा के पुत्र राजा उत्तमने अपनी पतिव्रता धर्मपरायणा रानी को विना अपराध वन में छोड़ दिया था। इसी प्रकार व्याह करने में बहुत से दुःख हैं। यदि कदाचित् पति मरगया, तो स्त्री

दुःखों का बरतन होजाती है। यदि पति विदेश चला जाता है तो उसके विरह में भी कुछ थोड़ा दुःख नहीं होता। इसलिए मेरी सर्वथा यही मति है कि अपना ब्याह ही न करूँ।

इसके अनन्तर रानीने राजाके पास जाकर कन्याका अभिप्राय वर्णन किया कि उसकी वासना वैराग्य में है—अर्थात् वह ब्याह नहीं करना चाहती। यह बात सुनकर राजा भी चुप हो रहा। जब कन्या युवावस्थाको प्राप्त होने लगी तो उसकी सखी-सहेलियोंने उसे बहुत समझाया। परंतु उसने ब्याह करनेको अंगीकार नहीं किया।

एक समय वह सखियों-समेत पुष्पवाटिकामें पुष्प चुनती और लताओंका परस्पर सम्मेलन, मनोहरता और रंग-रंग के फूलों की विचित्रता आदि भाँति-भाँति की छवि देखती फिरती थी। उसी मार्ग से थोड़े से सेवकों समेत अयोध्या का राजा वीरसेन रथपर चढ़कर आ निकला। उसके पीछे कुछ दूरपर सेना भी धीरे-धीरे चली आती थी। उसे देखकर राजपुत्री मंदोदरी ने अपनी सखियों से कहा कि रथ पर बैठा हुआ जो यह परम रूपवान् और दर्शनीय पुरुष चला आरहा है और जिसकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं, लक्षणों से ज्ञान पड़ता है कि किसी राजा का पुत्र है। यह बात वह अपनी सखियों से कह ही रही थी कि वह राजा सन्निकट आ पहुँचा। जब उसकी दृष्टि राजपुत्री के ऊपर पड़ी तो विस्मित होकर रथ से उतर पड़ा और एक सखी से पूछा कि यह किसकी पुत्री है? उस सखी ने मुसकरा कर कहा कि हे वीर! प्रथम आप अपना पता बतलाइए कि आप कौन हैं, कहाँ से आए हैं और इस समय यहाँ क्या काम है?

राजा ने कहा कि मैं कोशल देशका राजा हूँ और सूर्य-वंशी राजाओं के वंश में मेरा जन्म हुआ है। परम्परा से उस देश में हमारे कुल का राज्य है और मेरा नाम वीर-सेन है। मेरे पीछे चतुरंगिणी सेना चली आती है। मैं पथ भूलकर यहाँ चला आया हूँ।

सखी ने कहा कि यह राजा चन्द्रसेन की कन्या मंदोदरी है। पुष्पवाटिका के अवलोकन के लिए यहाँ आई है। यह सुनकर राजा ने कहा कि हे सैरंध्री! तू परम चतुरा है। इसलिए राजपुत्री को समझा कि मैं ककुत्स्थवंशी राजा हूँ। मैंने अभी तक इस विचार से अपना ब्याह नहीं किया कि जब अपने अनुकूल सत्कुलीन और रूपसम्पन्ना राजपुत्री मिलेगी तो उसके साथ ब्याह करूँगा। आज दैवगति से यह संयोग अनुकूल मिला है--अर्थात् मेरी और राजपुत्री की सारी व्यवस्था सदृश है। वह मुझे गंधर्वब्याह करके पति माने या विधिपूर्वक ब्याह होजाय तो बहुत अच्छा हो मैं सदा अनुकूलवर्त्ती रहूँगा। कभी इसके विपरीत या अप्रिय काम न करूँगा।

राजा के वचन सुनकर वह सखी मंदोदरी के निकट जाकर मधुर स्वर के साथ बोली—

दोहा।

जैसो सब चाहत रहे, मित्र प्रजा परिवार।
सो ईश्वर अवसर दियो, मत चूकहु इहि बार॥

हे राजपुत्री! यह समय अहोभाग्यका है कि सूर्यवंशी राजा आपसे आप आकर प्राप्त हुआ है वह परम रूपवान्, बलवान् तथा अवस्था में तेरे समान है और तुझसे प्रीति मानता है। तुम्हारे पिताको भी इस बातका बड़ा

ताप है कि तुम्हें वैराग्य आ गया है। हम लोगों से वे वारंवार कहते हैं कि तुम लोग उसके साथ रहती हो, समझाओ। आपका हठधर्म देखकर हम लोग नहीं कह सकतीं। देखो राजा मनुने धर्मशास्त्र में लिखा है कि स्त्रियों के लिए पति की शुश्रूषा ही परम धर्म है। इसीसे इनको स्वर्ग प्राप्त होता है। इसलिए आप अपना ब्याह विधिपूर्वक करें और हठको छोड़दें। क्योंकि हठ अच्छा नहीं होता—

सोरठा।

जो निज हित की बात, समुझि बूझि हठ ना तजै।
सो पाछे पछितात, गयो न अवसर मिलत फिर॥
कीजे सोई काज, पाँच-सात मिलि जो कहैं।
हार जीत नहिं लाज, वाही में हित होत है॥
वचन समय अनुसार, कहत भलाई समुझि कै।
प्रथमहि लेहु विचार, कहत सुजन हित समुझि निज॥

दोहा।

तब बोली नृप कन्यका, सुनहु सखी मम बात।
जो कह चुकी सो कह चुकी, अब वह तजी न जात॥
योग करूँ नहिं भोग-रुचि, मोहिं न पति से काज।
नृप को तू बरजत नहीं, लखत खरो तजि लाज॥

चौपाई।

सखी कह्यो सुन राजकुमारी; नहिं बोलत तुम वचन विचारी।
जैसी होइ ग्राम-कुल-रीती; तैसी करत सकल नर प्रीती॥
मातु-पिता कुल देखहु सही; बिना ब्याह कन्या को रही।
यथा उचित है सृष्टि विधाना; सोई किए होत कल्याना॥
नहिं गृहस्थ सम आश्रम दूजा; यामें सधत योग-जप पूजा।
कामप्रबल गति जब वह आवे; योग युक्ति जप काम न आवे॥

अपर जीव की कौन चलावे ; ज्ञानिन को सब नाच नचावे ।
तातें करहु वचन हितकारी ; नहिं पीछे पैहौ दुख भारी ॥
कहत मँदोदरि सुनु सखि बानी; तव शिक्षा मोहिं नाहिं सुहानी ।
जो कछु होय दैवगति सहिहौं; यह निश्चय—मैं ब्याह न करिहौं ॥

इस प्रकार मंदोदरी के हठको सुनकर सैरंध्री ने राजा से जाकर कहा कि महाराज उसको मैंने बहुत समझाया परन्तु हठको नहीं छोड़ती। इससे जान पड़ता है कि होनहार अच्छा नहीं है। इसे कोई अजत्पति मिलनेवाला है—

दोहा ।

जैसी हो होतव्यता, तैसी उपजै बुद्धि ।
होनहार हिरदै बसै, बिसरजाय सब सुद्धि ॥

इसलिए आप अपनी राजधानी को सिधारिए । मैंने बहुत भाँति समझाया और ऊँचा-नीचा दिखाया पर वह हठ नहीं छोड़ती । आपको तो इससे उत्तम स्त्री मिलेगी । परंतु मंदोदरी, जो किसी का कहा नहीं मानती और केवल हठ करती है, ऐसी लज्जित होकर पछताएगी, जैसा हठ करने से एक अहीरकी दुर्दशा हुई थी । राजा वीरसेन ने कहा कि बहुत अच्छा। जो तेरे समझाने से नहीं मानती तो फिर क्या उपाय है । परंतु मैं चाहता हूँ कि उस अहीरका वृत्तांत तुझ से सुन लूँ; तब यहाँसे जाऊँ। सैरंध्री ने उपाख्यान कहना आरंभ किया।

उपाख्यान ।

एक मंदमति अहीर वनमें गाय चराता था । किसी तालमें गायोंको पानी पिलाने गया तो उसका सब पानी सूख गया । उसकी सारी मछलियाँ चहलेमें पड़ी थीं। वह अहीर प्रसन्न होकर उन मछलियोंको एक कंबल में

बाँध लाया और अपनी स्त्री से कहा कि देखो मैं कैसे बड़े-बड़े मच्छ लाया हूँ। उसकी स्त्रीने कहा कि इतनी मछलियाँ क्या करोगे। उचित है कि हमारे बापके घर दे आओ। तब वह एक बड़ेभारी घड़े में भर कर अपनी ससुराल लेगया। ससुरालवाले मछलियों को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। उस समय जो लोग द्वारपर उपस्थित थे उन्होंने उसे आदर सन्मान से लिया और कुशल-क्षेम पूछकर उसे बैठाया और जो कुछ भोजन बना था मन्दमति को खिलाया-पिलाया। जब रात के समय मछली बन चुकीं तो उसकी ससुरालवालों ने कहा कि चलो अब सब कोई मिलकर मछली-रोटी खाएँ। मंदमति ने कहा कि हमारे यहाँ इतनी अधिक मछली होती हैं कि खाते-खाते ऐसी अरुचि होगई है कि अब जी नहीं चाहता कि फिर मछली खाऊँ। उसके ससुरालवाले लोग बार-बार कहकर थक गए कि कुछ खालो। तुम्हारे लिए बहुत अच्छे प्रकार से बनाया है। परन्तु मंदमतिने ऐसा हठ ठाना कि भोजन करने को न उठा।

निदान वह लोग खाने-पीने लगे। जो खाता था वह बखान करता था ऐसी मीठी और स्वादिष्ठ मछली कभी खाने में नहीं आई। कोई कहता था कि जैसी आज बन पड़ी हैं ऐसी तो कभी न बनेंगी। कोई कहता था कि मेरा बुढ़ापा आगया परन्तु इस प्रकार की मछली कभी न मिलीं। ज्यों-ज्यों वे लोग मछली की बड़ाई करते त्यों-त्यों मंदमति हाथ मल-मलकर पछताता और मन में कहता था कि मेरा कर्म फूट गया कि अमृत के समान मछली, जो ससुरालवालों ने मुझे अपना प्यारा पाहुन समझ बड़े स्नेह और अनुराग से बनवाई थी, मैंने ऐसे उत्तम पदार्थ

को खाने से अस्वीकार क्यों कर दिया। जन्म भर में एक दिन मछली भी मिली, तो मुँह से नाहीं निकल आई। अब कोई खाने को न कहेगा। फिर ऐसी मछली काहेको बनेगी।

इस प्रकार पछताता और सोच करता था। जब आधी रात हुई तब वह जिह्वा के वशीभूत होकर इस विचार से घर में घुसा कि कुछ थोड़ी बनी मछली रसोई में अवश्य बची होंगी उसे चुराकर खाऊँ।

जब मंदमति रसोई में पहुँचा तो इधर-उधर ढूँढ़ने लगा। एक हाँड़ी खूँटी पर रक्खी थी। वह उसके शिर से लगकर पृथ्वी पर गिरकर फूट गई। उसके गिरने का शब्द सुनकर लोग जाग उठे। उन्हों ने जाना कि कुत्ता है। इसलिए वह दुर्दुराकर मारने दौड़े तब मंदमति भागा वह उस घर में एक कूप था, उसीमें जा गिरा। लोग प्रसन्न होकर कहने लगे कि यह कुत्ता बड़ा दुष्ट था। हमलोगों को दुःख देता था। अच्छा हुआ, कि गिर पड़ा। फिर लोग कहने लगे कि कुत्ता होता तो भूँकता; यह बिल्ली तो नहीं है। इस प्रकार आपस में कहते थे फिर किसी ने उठाकर दो-चार ढेले मारे। शिर में घाव हो गया। जब मंदमति ने देखा कि अब ढेलों की मार से प्राण निकलना चाहता है तब कुएँ के भीतर से चिल्ला उठा कि मैं कुत्ता नहीं हूँ; मुझे निकालो। जब लोगों ने कुएँ से मनुष्य का शब्द सुना तब जाना कि चोर है। कुएँ में एक रस्सी डाल दी और कहा कि निकल आ। जब वह निकला तब यह न जान पड़ा कि वह मंदमति अहीर है। लोगों ने चोर की भाँति उसे बहुत मारा, और यह भी लज्जा के मारे कह न सका कि मैं मंदमति हूँ।

निदान जब वह अचेत होगया तो उन्होंने घसीट कर बाहर कर दिया और दीप जलाकर देखा तो सबके सब घबड़ागए और पछताने लगे कि बड़ा अनर्थ हुआ, जो घर का पाहुन एक तो कुएँ में गिर पड़ा और दूसरे इतना पीटा गया। निदान लोगों ने उसके देह में औषधि लगाया और हाल पूछा। पहिले तो वह न बतलाता था। फिर पीछे से बतलाया और जब लोग वहाँ से उठ गए तब वह रातही के समय लज्जित होकर घर चला गया। फिर जन्म भर ससुराल में मुँह नहीं दिखाया।

दोहा।

जो बिन बूझे हठ करे, सो पीछे पछिताय।
लाख भाँति बोधन करै, जिय की जरनि न जाय॥

सैरंध्री का यह उपाख्यान सुनकर राजा वीरसेन अपनी राजधानी को चला गया। जब मंदोदरी की छोटी बहिन इन्दुमती ब्याह के योग्य हुई तब राजा चन्द्रसेनने उसके स्वयंवर में बड़ा उत्साह किया। उस ब्याह में अनेक देश-देशांतर के राजा लोग इकट्ठे हुए। इन्दुमती ने एक राजपुत्र को कुल, शील, बल, रूपादिसे सम्पन्न देख उसके गले में जयमाल छोड़ दिया। तब राजा चन्द्रसेन ने उसके साथ उसका ब्याह कर दिया। उसी उत्सव में मंदोदरी, जो वैराग्य को ग्रहण करके विवाह करने पर प्रसन्न न थी, एक परम-शठ और अनाचारी तथा धूर्त राजा को अलंकारों से आभूषित और शृङ्गार से शोभित देखकर मोहित होगई।

तब उसने अपने मन में विचारा कि यह पुरुष कैसा

सुवेष और शुभाचारी दिखाता है। यदि इसके साथ मेरा ब्याह होजाय तो बहुत अच्छा हो। फिर उसने पितासे कहा कि इस राजपुत्रको देखकर मुझे ब्याह की इच्छा हुई है इस लिए मेरा ब्याह राजा चारुदेष्ण के साथ कर दीजिए। उस समय यही रीति थी कि जिस वरको कन्या चाहती थी उसीके साथ उसका ब्याह होता था। सो राजा चारुदेष्ण उसीके साथ उसका ब्याह कर दिया। मंदोदरी भी अपने पति के साथ ससुराल में गई। कुछ दिन तक तो स्त्री-पुरुष में परस्पर बड़ी प्रीति रही, परंतु वह जन्म का कुचाली और दुर्जन था। फिर अपने स्वभाव के अनुकूल असत्कर्म करने लगा। दो-चार बार तो मंदोदरी ने समझाया। फिर जब देखा कि अनेक कुलटा और व्यभिचारिणी पतित स्त्रियों के साथ प्रीति करता है तो मंदोदरी को उस सैरंध्री के वचन का स्मरण आया जो उसने राजा वीरसेन के साथ ब्याह करने के उपदेश में कहा था। वह इस बात को समझ-समझ कर चित्त में खेद करने और कहने लगी कि जब मैंने इसको स्वयंवर में देखा तब नहीं जानती थी कि यह ऐसा शठ और व्यभिचारी होगा। मेरा भाग्य फूट गया कि मैं ऐसे शठ के हाथ से ठगी गई। मेरी संपूर्ण अवस्था व्यर्थ जायगी। क्योंकि दूसरे का अनाचार देखकर चित्त को ग्लानि होती है और जब मुझे ऐसा अनाचारी पति मिला है, तो मेरे जन्म को धिक्कार है। मैंने प्रथम क्या व्रत धारण किया था और फिर मुझे कैसा धोखा हुआ कि मैंने अमृत समान मधुर फल को छोड़कर इन्द्रायण की सुन्दरता और ललाई के धोखे में अपने मुख को दूषित कर दिया। जैसा किसी कवि ने कहा है—

कुंडलिया।

धोखे दाड़िम के सुआ, गयो नारियर खान।
फल खायो पाई सजा, फिरि लाग्यो पछितान॥
फिरि लाग्यो पछितान बुद्धि अपनी को रोयो।
निरगुनियों के साथ बैठ गुन अपनो खोयो॥
कह गिरिधर कविराय कहूँ जइए नहिं ओखे।
गई सुआकी चोंच टूटि दाड़िम के धोखे॥

ऐसे पतित निर्लज्ज और शठ पतिको पाकर मुझे जन्म भरके लिए संतप्त होना पड़ेगा। संसार के सुखकी आशा जाती रही। जो विना विचारे हठ करता है वह अवश्य पछताता है। जैसा मैंने किया वैसा फल पाया कविने क्या हीं अच्छा कहा है—

कुंडलिया।

विना विचारे जो करे, सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय॥
जग में होत हँसाय चित्त में चैन न पावे।
खान पान सनमान राग रँग मनहिं न भावे॥
कह गिरिधर कविराय दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं कियो जो विना विचारे॥

मैंने हठ करके माता-पिता का कहा न माना और सखी के समझाने पर ऐसे समीचीन राजा वीरसेन का अपमान किया। निदान एक धूर्त के ऊपरी वेष से मोहित होकर, जिसका क्षणमात्र संग न करना चाहिए, उसके साथ मैंने अपना ब्याह किया। वह मेरे लिए दुःखदायी हुआ। अब मैंने पति के भोग-विलास के सुखका संतोष किया। आत्मघात हत्या को डरती हूँ; नहीं तो शरीर को

छोड़ देती। यदि कदाचित् पिता के घर चली जाऊँ तो वहाँ भी सुख न प्राप्त होगा। क्योंकि सखी लोग मेरे हठ-कर्म्म को कह कर हँसेंगी। वह दुःख मुझसे और भी अवश्य सहा न जायगा। इसलिए अब यही उचित है कि इसी स्थान में टिक कर, सांसारिक वासना को त्यागकर, ईश्वर के भजन में चित्त लगाऊँ और तप के द्वारा शरीर को सुखा दूँ। इस प्रकार सोच-विचारकर मंदोदरी ने अपने पति से जुदा हो एक स्थान में स्थित होकर जन्म बिताया और अपने किए हुए हठकर्म्म को आजन्म पछिताती हुयी अपने चिन्ता-रूप ज्वाला में शरीर को भस्म कर दिया। कविने सत्य ही कहा है कि—

कुंडलिया।

चिन्ता ज्वाल शरीर वन, दावा लगि-लगि जाय।
प्रकट धुआँ नहिं देखिए, उर अंतर धुँधुआय॥
उर अंतर धुँधुआय जरे ज्यों काँचकी भट्टी।
जरगो लोहू मांस रही जो हाड़ की ठट्टी॥
कह गिरिधर कविराय सुनो हो मेरे मिन्ता।
वह नर कैसे जियें जाहि तन व्यापै चिन्ता॥

दोहा।

उपदेशें हित के वचन, इष्ट मित्र समुदाय।
जो हठकरि माने नहीं, सो पीछे पछिताय॥

त्रयोदश तरङ्ग।

क्रोध और लोभ।

राजा जनमेजय ने व्यासमुनि से पूछा कि इस संसार में परम हित की कौन वस्तु है और परम शत्रु की कौन? व्यासजी बोले कि क्षमा परम हित की वस्तु है। यह संसार में दुर्लभ है। बड़े बड़े महात्माओं और समर्थों में भी थोड़ी होती है। और काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ये पाँचों परम शत्रु हैं। इनकी अधिकता बहुत है। यहाँ तक कि सबके शरीरमें व्याप्त हैं। और संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो इन शत्रुओं को जीते और इनके वशमें न पड़े। इन पाँचों का उत्पत्ति स्थान मन है जिसकी गति बहुत सूक्ष्म है। उसके जीतनेकी तो क्या चर्चा है, जब तक ये काम, क्रोध, मद, लोभ और अहंकार निवृत्त हों तबतक अपराधका मूल भी न मिटेगा। इसके विषय में एक प्राचीन उपाख्यान तुमसे कहते हैं, सो सुनो—

हैहयवंश में एक राजा कार्त्तवीर्यार्जुन परम तेजस्वी और प्रतापवान् था। वह दान-धर्म में सदा तत्पर रहता था। उसने अनेक प्रकार के यज्ञ करके इतना अधिक दान किया कि उस देशमें जितने भृगुवंशी ब्राह्मण थे वे बड़े-बड़े धनाढ्य और कोट्याधीश होगए।

जब राजा का देहान्त हुआ, तो बहुत काल बीतने पर हैहयवंशी क्षत्रिय निर्धन होगए। किसी समय उनको धन का प्रयोजन आ पड़ा तो उन्होंने ब्राह्मणों

के निकट जाकर बिनती से धन के लिए याचना की। किन्तु वे ब्राह्मण लोभ में ऐसे डूबे थे कि उन्हें बहुत धन की कौन कहे, थोड़ा भी धन देने को राजी न हुए। किसी ने पृथ्वी में गाड़ दिया, किसी ने टाल-मटोल कर दिया और कितने स्थान छोड़-छोड़ कर भाग गए। वे ऐसे लोभ के वशीभूत हो गए कि द्रव्य को तो प्रिय जाना और अपने यजमानों के क्लेश को देख उनको दया न आई बरन क्षत्रियों के भय से पर्वतों और वनों में जा छिपे। उनमें कितने ही जहाँ कहीं जाते थे वहाँ द्रव्य साथ लिए रहते और झाड़ियों के नीचे गाड़ देते थे और इन क्षत्रियों को भी ऐसा द्रव्य का बड़ा प्रयोजन था कि विकल होकर चारों ओर खोजते फिरते थे। जब उन्होंने देखा कि सब घर छोड़-छोड़ कर चले गए तब वे कोप के वश होकर जहाँ कहीं द्रव्य पाते थे, वहाँ से लेनेलगे। जहाँ किसीके घर में सुनते उठवा मँगाते। जहाँ कहीं गड़ा ज्ञान पड़ता, खोद लेते।

जब घर-घर में धन निकलने लगा तब ब्राह्मण लोग हाय मार कर रोने और दुहाई मचाने लगे। उस समय क्षत्रियों को ऐसा क्रोध आया कि ब्राह्मण लोग यद्यपि उनके मान्य थे, पर वे जिसको देखते बाणों से मार देते।

जब नगर में जो कुछ ब्राह्मणों का धन था ले चुके, तब पहाड़ों और जंगलों में भी उनके पीछे पड़े। जहाँ जो धन उनके पास मिलता उसे लेकर उन्हें मारडालते। छोटे-बड़े किसीको न छोड़ते। तिस पर भी हैहयवंशियों की क्रोध-ज्वाला दिन-दिन बढ़ती जाती और शांत न होती थी। तब और-और देशके तीर्थवासी मुनियों ने समझाया कि हे क्षत्रियो ! तुम सब क्रोध के वश में पड़ के क्या अनर्थ

करते हो ? लोक-परलोक से नहीं डरते और अपने जाति-धर्म और कुल-धर्म त्याग कर अमर्ष के वशीभूत होकर ऐसे अनिष्ट महाघोर पाप में प्रवृत्त हो कि बाल-वृद्ध का भी वध कर डालते हो। यह तुम्हारा कर्म महाअनुचित है। इस से परलोक तो सर्वथा बिगड़ता ही है बरन इस लोक में भी उसका फल मिलेगा।

दोहा ।

तीन वर्ष त्रय मास अरु, तीन पक्ष दिन तीन ।
पाप पुण्य अति उग्र को, यहीं होत फल पीन ॥

इसलिए जो अपना कल्याण चाहते हो तो ऐसा महानिन्दित कर्म न करो । दयावान् मुनियों की बात सुनकर हैहयवंशी क्षत्रिय बोले कि आप लोग महात्मा साधु हैं । पाप-कर्मियों के अर्थ को नहीं जानते। इन्होंने हमारे पुरुषों को कपट-विद्या से चोरों के समान ठगकर बहुत धन लिया है। ये बड़े पाखण्डी और वक-वृत्ती हैं। जैसे बगुला देखने में शांत चित्त रहता है, पर मछलियों पर चोट करता है, ऐसे ही ये लोग हैं। हमको अत्यावश्यक प्रयोजन पड़ा तो हमने बड़ी बिनतीसे याचना की कि हम तुम्हें सवाईसमेत देंगे। इस समय हमारे मतलब को पूरा करो । हम लोग इनके यजमान हैं । इन्हों ने हमारे दुःख पर कुछ दृष्टि न की। इनको चाहिए था कि हमारे दुःखको देख दुःखी होजाते और थोड़ा-बहुत बिना माँगे लाकर देते । सो ये केवल नहीं-नहीं करते रहे। जब कार्त्तवीर्य से इनको धन मिला तो इन्होंने यज्ञदान में क्यों नहीं लगाया और निर्द्धनों और दीनों को धन के लिए दो ही गति उत्तम हैं—एक दान दूसरी भोग। तीसरी गति नाश अर्थात् जिसने न दान

दिया और न भोग किया वह धन उसके अर्थ में नहीं लगता बरन उसी धन के कारण उसकी भी दुर्दशा होती है—

कुंडलिया।

द्रव्य पाय के देत नहिं, और करे नहिं भोग।
निश्चय ताकी सम्पदा, होत और के योग॥
होत और के योग दंड बहु राजा माँगे।
आग लगे जरि जाय चोर वंचक ले भागे॥
भाँति-भाँति के दुःख उसी के कारण पावे।
वा धन ही के काज मरे दुर्गति में जावे॥

ये हमारे पुरोहित हैं। हमने इनसे उधार धन माँगा। बिनतीपूर्वक अपना अति आवश्यक मतलब सुनाया और हाथ जोड़कर पाँव पकड़कर गिरे। सवाया धन देने को भी कहा। पर ये लोभ में ऐसे लिप्त थे कि हमको न दिया।

दोहा।

धन की तो गति तीन हैं, दान भोग अरु नाश।
दान भोग जहँ होय नहिं, तहँ पर होय विनाश॥
दान भोग से हीन जो, कृपण करै धन गोप।
दंड योग सो अधम नर, करै नृपति तेहि लोप॥

इसलिए हमलोग इन अधम वंचकों के मारने पर सन्नद्ध हैं। व्यासजी बोले इस प्रकार से वे क्षत्रिय तपस्वियों को उत्तर देकर फिर भृगुवंशियों को खोजने लगे और जिसको पाया उसको न छोड़ा और भृगुवंशियों की स्त्रियाँ भी मारे भय के हिमवान्‌पर्वत के निकट भाग कर वनों में जा छिपीं। राजा! देखिए लोभ में पड़कर क्षत्रियों ने कितने जीवों की हत्या की और भृगुवंशी लोभ में पड़ के कैसे मारे गये? सच कहा है—

दोहा।

लोभ महा रिपु देह में, सब दुःखों की खान।
पाप मूल अरु प्राण-हर, तजे ताहि मतिमान॥
यशी पुरुष के विपुल जस, गुनियों के गुन नेह।
तनिक लोभ में नसत सब, फूल परे जिमि देह॥
देह-धर्म कुल-धर्म अरु, तजें तुरत पितु मात।
लोभ-विवश नर करत हैं, मित्र विप्र गुरुघात॥
क्रोध काम हंकार ते, लोभ महाबलवान।
जाके वश ह्वै तजत हैं, दुर्लभ प्रिय नर प्रान॥

व्यासजी बोले कि सुनो राजन्! लोभ ऐसा प्रबल शत्रु है कि उस के वश होकर नर जो न करडाले सो थोड़ा। देखो हैहयवंशी क्षत्रियों ने लोभ ही के वशीभूत होकर कितने अधर्म किए। किसी ने कहा है—

दोहा।

जैसी मन में विषय की, होत वासना आय।
तैसी उपजत कामना, ता भोगन को धाय॥
होत कामना ते प्रबल, लोभ पाप को मूल।
प्रकट होत फिर ताहि ते, क्रोध प्रदायक सूल॥
क्रोध करत फिर मोह को, मोह चित्त-भ्रम तास।
चित्त-भ्रम ते बुधि नसत, बुद्धि नास ते नास॥

राजा जनमेजय ने व्यासजी से फिर प्रश्न किया कि हे महाराज! भृगुवंशियों की स्त्रियाँ, जो हिमालय पर्वत की ओर भाग गई थीं, उनकी क्या गति हुई और उन पापाचारी क्षत्रियों ने क्या किया। जब उन्होंने बड़े-बड़े महात्मा तपस्वियोंके समझाने पर भी नहीं माना तब फिर उन भृगुवंशी ब्राह्मणों का वंश किसप्रकार स्थित हुआ? व्यास

ने राजासे कहा कि जब वे स्त्रियाँ पीड़ित होकर हिमालय पर्वत की ओर भाग गईं और हैहयवंशियों के भय से विह्वल थीं तो उनमें से एक स्त्री गर्भवती थी। वह परमेश्वर के भजन और ध्यान में मग्न रहती। वह कहती थी कि, हे जगत्रक्षक कृपासागर प्रभो! मुझ अशरण की शरण तू ही है। मैं तेरे चरणारविंद की वास्तविक दासी हूँ। तू मेरी रक्षा कर। इस प्रकार जब उसने जगत्-रक्षक प्रभु का ध्यान किया तो उसे स्वप्न में यह वरदान हुआ कि तुम सब इसी स्थान में रहो। अब किसी प्रकार का भय न होगा। सत्य ही कहा है—

दोहा।

वन रण दुर्ग समुद्र में, जहँ संकटयुत प्रान।
अशरण के प्रभु होत हैं, शरण ईश नहिं आन॥

जब भृगुवंशियों की स्त्रियाँ वहाँ रहने लगीं तो थोड़े अंतरमें हैहयवंशी क्षत्री लोग क्रोधके वशीभूत होकर ढूँढ़ते-ढूंढते उस स्थान पर भी पहुँचे। वहाँ स्त्रियाँ, व्याघ्रों के समान उग्ररूप,भयंकर और प्राणघाती तथा दयाहीन हैहय-वंशियों को देखा, जो पशु की भाँति भृगुवंशियों को आखेट करते चले आते थे; तो वे वहाँ से भी प्राणरक्षार्थ भागीं। परन्तु जो गर्भवती थी और जिसका गर्भ पूर्ण हो गया था उससे चला न जाता था और मारे डरके रोती और हाय-हाय करती जाती थी। वे क्षत्री कहते थे कि इस गर्भवती स्त्री को पकड़ो और मारो। इस प्रकार कहते और हाथों में नंगी तलवारें लिएहुए उस स्त्री के पास पहुँचे। एक तो उसका गर्भ पूरा हो चुका था, दूसरे ऐसे प्राणसंकट में पड़ी कि मारे डरके सूर्यके बिंब की भाँति उसका गर्भ पृथ्वीपर गिरपड़ा।

और वह स्त्री पृथ्वी पर मूर्च्छित होकर मृतक-सी होगई। जब वह गर्भ पृथ्वी पर गिरा तो उसमें से ऐसी प्रभा और तेजकी कांति निकली कि मानों दूसरा सूर्य हो। उस तेजसे क्षत्रियों को मारने वाले जितने घातक उस स्थान में विद्यमान थे, उन सबकी आँखों की ज्योति मारीगई और ऐसे होगए कि मानो जन्मके अंधे थे। बस, नेत्र हीन होनेसे इधर-उधर पहाड़ और वनों में भटकने फिरने लगे और क्रोधको छोड़ कर भयभीत हो यह सोचने लगे कि यह स्त्री बड़ी पतिव्रता है जिसके देखने से हमलोग अंधे होगए। इस प्रकार सोच-विचारकर वे पापी क्षत्रिय उस स्त्री की शरण में गए और यह कहकर प्रार्थना करने लगे—

दोहा।

लोक वेद मर्याद तजि, घोर पाप जस कीन।
ताही को फल प्रगटिके, कियो नेत्र ते हीन॥

हे अम्ब! हम अपराधियोंके अपराधोंको क्षमा करो। हम सब तुम्हारे सेवक हैं। हम सबों ने पाप-बुद्धि होकर बड़ा अधर्म किया। आज तुम्हारे क्रोध-दृष्टि से हम सब अंधे होगए। अब हम कहाँ जायँ और क्या करें? अंधा होने से तो मरना अच्छा है। अब हम तुम्हारी शरण में हैं। हमारे अपराधों को क्षमा करके हमें देखनेकी शक्ति दो। हम लोग ऐसा पाप-कर्म फिर कभी न करेंगे। अज्ञानवश जो किया, सो किया। अब हे माता! तू प्रसन्न हो।

व्यासजी ने कहा कि सुनो राजा, जब क्षत्रियों ने ऐसी विनती की तब ब्राह्मणी बोली कि, सुनो क्षत्रियो, तुम मेरी शरण क्यों पुकारते हो और मुझे क्या शरण देने की सामर्थ्य है। यदि तुम्हें शरण में जाना है तो उसकी शरण

में क्यों नहीं जाते जिसने मुझ अशरण को शरण में लेकर बचाया है। और तुम्हें अधर्म से हटाया है। मैं सच कहतीहूँ कि यह मेरे क्रोध का कारण नहीं है। इसबालक के प्राण का बचाना उस अप्रमेय कारुणिक प्रभु को अंगीकार है; जो दीनों को महाआपत्ति से बचाता है। उसीने इस अनाथ बालक में इतना तेज उत्पन्न करदिया है कि जिससे तुम सबों की दृष्टि बंद होगई। जब उसे किसीकी रक्षा अंगीकार होती है तब वह अनाहूत कोई न कोई उपाय प्रगट कर देता है। अतः तुम सब उसी की शरण में जावो और अपराध की क्षमा माँगो। क्योंकि लिखाहै—

दोहा।

अघटित को सुघटित करे, सुघटित को अघटाय।
अटपट गति भगवंत की, जो मन नाहिं समाय॥

जब वह प्रसन्न होगा तब आपसे तुम्हें दीखने लगेगा। ब्राह्मणी का वचन सुन क्षत्रियों ने बहुत प्रकार ईश्वर की स्तुति की और अपराध के लिए क्षमा माँगी और कहा कि आजसे फिर हम ऐसा अनिष्टकर्म कभी न करेंगे। इस प्रकार की जब बड़ी स्तुति की तब उस क्षमाशील प्रभु ने अनुग्रह किया और यह आकाशवाणी हुई कि तुमने ईश्वरकी सृष्टिको बहुत सताया है। राजाको इसलिए जगत् सौंपा जाता है कि वह सबों को न्याय-सहित पाले। किसी पर कोई अन्याय न करने पावे। जब राजाही अन्याय करेगा तब दूसरे के अन्याय-कार्य को कौन रोकेगा? क्योंकि राजा सब का स्वामी है। लिखा भी है—

दोहा।

रखकही खेती चरे, राजा पर धन लेइ।

हर हरि धर हरि कराहि जो, जनानि सुताहि विष देइ ॥
जाहि भरोसे सोइए, डारि गोदमें शीश।
ताकी चाल कुचाल को, रखवारो जगदीश ॥

तुम्हारा नेत्र तुमको मिलता है। तुम लौटकर अपने देशको जाओ और जो तुमने घोर पाप किया है उसका प्रायश्चित करके मिटाओ। न्याय-धर्म से प्रजा का पालन करो। व्यासजी राजा जनमेजयसे बोले कि इस प्रकार आ-काशवाणी होतेही उनकी आँखें खुलगईं और वे अपने देशको चलेगए। वह स्त्री अपने बालकको उठाकर अपने आश्रम में गई और उसकी सेवाकी। फिर उसी लड़के से भृगुवंश की वृद्धि हुई।

चतुर्दश तरङ्ग ।

सन्तोष और लालच ।

सोरठा ।

अभिमानी के पास, होइ कदाचित अमियफल ।
वाकी करे न आस, बुद्धिमान अरु चतुर नर ॥

दोहा ।

पेट भरें अपमान सहि, मुख की सोभा जाय ।
तन दुखसहि जो धृति गहै, नित-नित श्री अधिकाय ॥
बहुधा लज्जित होत हैं, पेट अर्थ बहु लोग ।
उदर दुःख सहिबो भलो, चित न दुखैबो योग ॥
हे सन्तोष-सुसम्पदा, हमें करो धनवान ।
यद्यपि जगमें बहुत धन, नहिं कोउ तोहिं समान ॥

उपाख्यान ।

मिस्रदेश में दो बड़े धनवान् पुरुष रहते थे। उनके दो पुत्र थे। एक ने विद्या सीखी तथा बड़ा विद्वान् हुआ और दूसरे ने धन इकट्ठा किया तथा मिस्र के राजाका राज्य-मन्त्री हुआ। तब वह धनवान् उस विद्वान् को तुच्छ समझने लगा और बहुधा कहता कि मैं इतने बड़े राज्यपर प्राप्त हुआ और तू वैसाही दीनता में रहा। विद्वान् ने कहा कि भाई, मैं ईश्वर को अधिक धन्यवाद देता हूँ कि जिसने मुझे महात्माओंकी परम्परा का अधिकार दिया अर्थात् विद्या दी—और तुम्हें अन्यायी राजाका राज्य प्राप्त हुआ—

पुनः ।

एक मनुष्य ने एक विद्वान् से पूछा कि एक दिन में

कितना आहार करना चाहिए। उसने कहा कि तीन पाव बहुत है। वह बोला कि इतने भोजनसे कितनी सामर्थ्य होगी। तब वह कहने लगा कि इतना भोजन तो तुम्हारा पोषण करेगा। पर यदि इससे अधिक आहार करोगे तो उसका बोझ तुम्हारे ऊपर है। उसको तुम्हें सँभालना पड़ेगा। क्योंकि शास्त्र का मत है—

दोहा।

तन-रक्षा अरु भजन लगि, भोजन करें सुजान।
भोजन लगि जो तन लखें, वे नर बड़े अज्ञान॥

पुनः।

एक विद्वान् अपने पुत्रको अधिक खाने से रोकता था कि अधिक भोजन से मनुष्य रोगी होजाता है। पुत्र ने कहा कि हे पिता! क्षुधा संसारको मारती है और आपने यह कहावत नहीं सुनी कि भूखके दुःखसे अघानेका मरना अच्छा होता है। उसने कहा कि इतना भोजन न करना चाहिए कि मुँहसे बाहर निकल आए। क्योंकि—

दोहा।

भोजन सोइ सराहिए, जो शरीर सुखदाइ।
दुखदायी वह होत है, जो मिति से अधिकाइ॥
रसमय गुणमय स्वादमय, बिन इच्छा विष तूल।
सूखी रोटी भूख में, होत मधुर सुख-मूल॥

चौपाई।

थोर अहार करे नर जोई; कठिन समय काटे सुख सोई।
बहुत खाइ जो पेट बढ़ावे; विपति काल सो प्राण गँवावे॥

पुनः ।

लड़ाई के समय एक वीर पुरुष के अंग में घाव लग गया । उसे देखकर किसी मनुष्य ने कहा कि अमुक महाजनके पास औषध है । यदि तुम्हें मिलती तो उसके लगाने से सब क्लेश जाता रहता । परंतु वह सूमों में ऐसा प्रसिद्ध है कि जो कदाचित् उसके भोजन के पास सूर्य होता तो उसका प्रकाश प्रलयतक जगत् में कोई देखने न पाता । वीर पुरुष ने कहा कि यदि माँगूँ और वह न दे अथवा दे और औषध गुण न करे । परंतु याचना-रूपी विष प्रत्येक अवस्था में काल के समान है । लिखा है कि—

चौपाई ।

जो नीचन सन याचन करई ; तन से बढ़े चित्त से मरई ।

पुनः ।

एक भिक्षुक नंगाधड़ंगा धूल से लिपटा हुआ एक मुनि से हाथ जोड़कर बोला, कि हे मुनिराज ! आप मेरे निमित्त परमेश्वर से प्रार्थना करें कि वह मुझे प्रतिदिन का आहार दे । मैं निर्बलता से मरा जाता हूँ । उसकी विनती सुनकर मुनिने ईश्वरसे प्रार्थना की और उसके पास बहुत धन हो गया । फिर किसी समयांतर में उसी मनुष्यको, जिसके लिए प्रार्थना की थी, बाँधा हुआ और उसके चारों ओर मनुष्यों की भीड़भाड़ होरही थी, देखकर मुनि ने कहा कि यह क्या होरहा है ? लोगोंने कहा कि इसने मदिरा पीकर लड़ाई की और किसी को मार डाला है । सो उसके पलटे इसके मारनेकी आज्ञाहुई है ।

पुनः ।

एक मनुष्य, रत्न-पारखियों से अपने परदेश का वृत्तांत

कहता था कि मैं एक बार वनमें मार्ग भूल गया और खानेको मेरे पास कुछ न था। तब यह निश्चय होगया कि अब किसी प्रकार प्राण नहीं बचते। मैंने वनमें मोतियों से भरी हुई एक थैली पड़ी पाई। वह प्रसन्नता और हर्ष, जो उस समय हुआ था, कभी न भूलूँगा। क्योंकि उस थैली को देखकर मैंने जाना कि भूना हुआ चनाहै। फिर उस नैराश्य और ताप को भी न भूलूँगा, कि जब मैंने जाना कि ये मोती हैं।

चौपाई।

निर्जन वनमें प्यास सतावे ; मोती पास काम केहि आवे।
बिन अहार जो पुरुष विकलहो ; केहिकारज तहँ रत्न सकलहो।

पुनः।

एक महाराजा शीतकाल में साथियों-समेत अहेर खेलते-खेलते अपनी राजधानी से बहुत दूर निकल गया। जब रात हुई तब एक ठाकुर का घर दिखाई पड़ा। राजा ने कहा कि रातको हम वहाँ रहें, तो जाड़े से बचें। एक मंत्री ने कहा कि यह बात महाराजाओंकी पदवी के योग्य नहीं है, कि एक निर्धन ग्रामीण के घरके लिए प्रार्थना की जाय। इसी जगह डेरा डाला जाय और आग जला दी जाय। जब गाँववाले मालिकको समाचार मिला तो जो कुछ उससे बन पड़ा लाकर राजा की भेंट की और साष्टांग दण्डवत् करके बोला कि महाराजा की महिमा इतनी न घटती जितनी कि ग्रामीण की पदवी बढ़ती। परन्तु महाराज ने यह न चाहा कि अपने आश्रित एक ग्रामीण का गौरव बढ़े। महाराजा को उसके वचन बहुत प्रिय लगे। रातही को उसके घर पर गया और

प्रातःकाल के समय उसको पारितोषिक और उत्तम पदार्थ दिया। तब वह ग्रामीण हाथ जोड़कर बोला कि हे पृथ्वी-नाथ! इस कुटी में पधारने से आपकी राज्य-श्री कुछ न्यून नहीं हो गई और आपकी कृपादृष्टि से मेरे घर में अब किसी वस्तु का टोटा नहीं है। क्योंकि जहाँ आपही पाहुन हुए वहाँ मेरी टोपी का कोना सूर्य से जा मिला।

पुनः।

एक भिक्षुक के पास बहुतसा धन था। किसी राजाने उससे कहा कि लोग यह बात प्रसिद्ध करते हैं कि तुम्हारे यहाँ बहुत धन है। सो हमको एक बड़ा प्रयोजन है। जो मुझे कृपा करके कुछ धन दो, तो बड़ा लाभ होगा। और समय पर धन्यवाद-पूर्वक तुम्हारा धन दे दिया जायगा। भिक्षुक ने कहा कि हे जगत्पालक महाराज! उत्तम और धर्मशील राजाओं का यह काम नहीं है कि जो मैंने भीख माँग-माँग कर बटोरा है, उस धनमें आप हाथ लगावें। राजा बोले कि कुछ संदेह नहीं, मैं ऐसा द्रव्य नास्तिकों को देता हूँ। तब राजाने आज्ञा दी कि झिड़की और कठिनाई से इसको ठीक करके काम निकालो। सेवकों ने वैसाही किया—

दोहा।

जो नर काम न करत है, कहे रसायन बात।
सो हठ से सब सहत है, अरु पीछे पछितात॥

पुनः।

एक धनवान् महाकृपण था कि उसकी कृपणता जगत् में ऐसी प्रसिद्ध हुई कि उस समय उसके समान कोई न था। वह यहाँ तक सूम था कि एक जीव के पलटे में एक

रोटी न देसकता था और कुत्ते बिल्ली उसके हाथ से एक कौर भी न पाते थे। उसका द्वार कभी न खुलता था। खानेकी तो क्या चरचा है, उसके घर में जो रसोई बनती थी, उसकी महक भी कोई न सूंघ सकता था। और चिड़ियाँ उसके घरमें एक कणमात्र भी न चुग सकती थीं। एक समय अभिमान में मत्त होकर वह परदेश गया। जब जहाज़ पर चढ़ा तो नाव को डुबानेवाली भारी आँधी चली और नाव डगमगाने लगी। तब घबराकर हाथ उठाया और परमेश्वर से विनती करने लगा—

दोहा।

समय पाय नहिं हरि भज्यो, कियो न कछु धन-दान।
विपति पड़े पर काम को, होत न रोदन ज्ञान॥
सोना रूपा पाय के, करहु दान सन्मान।
असन-बसन सुख प्रभु भजन, या ही में कल्यान॥

जब उस उत्पात में वह मर गया तब जो उसके घर में धन सम्पत्ति थी वह उसके कुटुम्बवाले जो दुखिए और भिखारी थे उनके हाथ लगी और वे बड़े धनाढ्य हो गए। वे दरिद्री कटुम्बी लोगोंने फटे पुराने कपड़े उतार कर उत्तम वस्त्रों से सुसज्जित हो बड़े ठाट-बाट से रहने लगे। उसी अठवाड़े में एक संत ने उसके कुटुम्बियों में से एक को देखा कि वह घोड़ेपर चढ़ा है और उसके आगे पीछे सेवक दौड़े जा रहे हैं। तब संत ने यह कहा कि—

चौपाई।

कृपण मृतक जो जीवित फिरता; धन मिलने में होत कठिनता।

उस संतसे और कृपण के कुटुम्बी से पहिचान थी इससे उसका हाथ पकड़कर बोला—

दोहा।

मित्र खाहु अरु सुख करो, धरो ध्यान उर नाथ।
खायो नहिं संग्रह कियो, कृपण न लैगो साथ॥

पुनः।

एक मल्ल कुसमय और दुर्दिनके कारण बहुत खेद में और दुःखी होकर अपने पिता से कहने लगा कि मेरी विदेश जाने की इच्छा है। आप आज्ञा दीजिए तो मैं जाऊँ और अपने भुज-बल से निज मनोरथ को सिद्ध करूँ। तब पिता ने कहा कि हे पुत्र! जैसा तू कहता है देशाटन से ऐसे ही असंख्य सुख हैं। परन्तु परदेश पाँच समुदायों के लिए सुखदायी होता है। प्रथम व्यापारी को जिसके पास उत्तम पदार्थ हों, दास-दासी और सावधान भृत्य हों तो प्रतिदिन, प्रतिसमय, प्रत्येक नगर और प्रत्येक स्थान में उसको सांसारिक सुख प्राप्त होता है। क्योंकि चाहे पहाड़ हो या जंगल और पटपड़ हो या गाँव, जहाँ पहुँचा वहीं डेरा डाल दिया। उसी स्थान में उसका घर बनगया। दूसरे ऐसे विद्वान् को, जो मधुर और लालित्यमय वाणी और अलंकारादि में विचक्षण हो। वह जहाँ जायगा, वहीं आदर और सन्मान पावेगा और प्रत्येक स्थान में उसकी प्रतिष्ठा और गौरव होगा। क्योंकि—

दोहा।

विद्या-युत सुवरण सदृश, जहाँ जाय तहँ मान।
दुखी देश परदेश में, मूरख होत समान॥

श्लोक।

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते;
कांतेव चाभिरमयत्यपनीय दुःखम्।

कीर्त्तिश्च दिक्षु वितनोति तनोति लक्ष्मीं ;
किङ्किन्न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥

अर्थात् विद्या माता के समान रक्षा करती है, पिताके समान हित में लगाती है, स्त्री के समान आनन्द देती है, दुःख को दूर करती है, चारों दिशाओं में कीर्ति को बढ़ाती है और लक्ष्मीका विस्तार करती है। यह विद्या कल्पलता के समान क्या-क्या नहीं देती अर्थात्—सब पदार्थ को सिद्ध करसकती है।

रूपवान् के मेल-मिलाप को बड़े जनों का चित्त चाहता है जैसा महात्माओं ने कहा है कि थोड़ी सुन्दरता बहुत धनसे अच्छी होती है। जो लोग सुन्दरता पर रुचि रखते हैं वे उसका संग चाहते हैं और आदर-मान करते हैं।

गान-विद्या और मधुरस्वरवाला, जिसका राग और तान सुनकर पानी बहने से, पशु भागने से और पक्षी उड़ने से रुकजायँ, और जिसके कान में स्वरके आलाप का किंचित् मात्र शब्द पड़े वह तन मन धन से उसीका होजाय। बड़े-बड़े लोग संगति के अभिलाषी होते हैं। और भाँति-भाँति की शुश्रूषा करते हैं ऐसे मनुष्यों का सभी आदर देते हैं। जैसा कि लिखा है—

दोहा।

मधुर राग अति प्रिय लगै, श्रवण होत संतुष्ट।
मन हुलसै सब तन हँसे, जीव होत है पुष्ट॥

जो ऐसा गुणी न हो वह अपने शारीरिक श्रम और उद्यम से अपना काल-क्षेप करे जिससे कि आहार के कारण प्रतिष्ठा भंग न हो। बड़ों ने जैसा कहाहै—

दोहा।

जो नर निज गृह-ग्राम तजि, देश बिराने जाय।
वह जैसो उद्यम मिलै, करहि ताहि चित लाय ॥

हे पुत्र ! जिसप्रकार से परदेश का वर्णन मैंने किया है उस प्रकार से देशाटन लाभकारी और सुखदायी होता है। जो मनुष्य इन सामग्रियों से रहित हो और विना समझे बूझे मिथ्या अनुमान से परदेश जाता है जिसका नाम और पता कोई न पावे, तो उसको जानना चाहिए कि वह अभाग्य और विनाशकाल के वश होकर जाता है। जैसे कबूतर के प्रारब्ध से घोंसला उठजाता है। तब वह होनहार की प्रेरणा से जालपर दाना चुगने को जाता है। पुत्र ने कहा कि पिता मैं विद्वानों के वचन के विपरीत क्या करूँ। जैसा उन्होंने कहा है कि, प्रारब्ध मुख्य है, परन्तु उद्योग भी करना उचितहै। होनहार विपत्ति भी ध्रुव है। परन्तु अनिष्ट कामों से बचना चाहिए। लिखा है कि—

चौपाई।

यद्यपि होय भाग्यमहँ जितना ; पौरुष होय करहु श्रम तितना।
निश्चय विना काल नहिं मरना ; उचित न अजगरके मुख परना।

मेरे चित्त में इस समय ऐसा आता है कि दौड़ते हुए हाथी को मारूँ और बाघ को पछारूँ। इसलिए उचित है कि मैं देशाटनकरूँ। दरिद्रताकी पीड़ा अब मुझसे सही नहीं जाती। क्योंकि— दोहा।

जब नर निज गृह ते चले, तो नहिं कछु संदेह।
एक छुटे बहु मिलत हैं, सकल जगत मय गेह ॥
रात पड़े धनवान नर, करत नगर महँ वास।
भिक्षुकको जहँ निशि मिलत, तहँपर होत निवास ॥

इसप्रकार बातचीत होने के पीछे बाप से आज्ञा माँगकर साहस के साथ विदेश को चला और अपने मन में ऐसा भी सोचता जाता था कि—

दोहा।

यदि अभाग्यवश गुणिनको, गुण नहिं आवे काम।
तो चलिए तेहि ठौर जहँ, कोउ नहिं जाने नाम॥

इसप्रकार सोचता हुआ एक नदी के तीर पर पहुँचा। उस नदीकी ऐसी तीव्र धारा बहती थी कि पत्थरों पर पत्थर लुढ़कते चले आते थे और उसका घरघराहट शब्द कोसोंतक सुनाई देता था। पत्थर और तेज लहरों के कारण से उस नदी के जंतु और जल-पक्षी भी कभी निर्भय नहीं रहते थे। मल्लने किनारे पर जाकर देखा कि बहुत से बटोही गठरी-मोटरी बाँधे हुए विदेश की सामग्री-समेत एक नाव पर बैठे हुए हैं इस बलवान् पुरुष मल्ल के पास कुछ उतराई देने की वस्तु न थी। इसलिए हाथ जोड़ कर विनती की बातें कहने लगा। परन्तु कुशील केवट ने हँसकर उसकी बात उड़ा दी और यह कहा कि जो तुम्हारे पास दाम नहीं हैं, तो बल से काम नहीं चलेगा और जो पास दाम हैं तो बल का काम नहीं है।

दोहा।

दस पूरुष सम होय बल, नेक न चलि है काम।
नदी पार ह्वैहो तभी, जब देहौ कछु दाम॥

केवट के ऐसे व्यंग वचन को सुन बलवान् पुरुष के अंतःकरण में अति क्रोध हुआ और चाहा कि उससे इस बातका बदला दे। परन्तु नाव छूटगई, तब उस मल्ल ने पुकारा कि जो कपड़ा मैं पहिनेहूँ यदि तू इस पर संतोष

करे तो मुझे देने में सोच नहीं है। यह सुन केवट लालच में पड़कर नाव फेर लाया। सत्य ही कहा है—

चौपाई।

लालच-वस नर चतुर नसाहीं; जाल बीच झष खग पछिताहीं।

जब पास आया तो बलवान् पुरुष ने केवटका बाल पकड़ कर नीचे गिरादिया और बहुत मारा। केवट का मित्र उसकी सहायता के लिए नावसे बाहर आया किन्तु उसे भी मल्लने भली-भाँति पीटा। तब तो घबराकर केवटों ने सोचा कि अब इसके साथ लड़ाई में कल्याण नहीं है। निदान उस से हाथ जोड़कर बिनती करने लगा कि आप चलकर नाव पर बैठिए। हम आपसे कुछ न लेंगे—

चौपाई।

शांत कीन्ह जो चहै लड़ाई; सहै बात गहि के चतुराई।
विनती अरु प्रिय वचन सुनावे; बाँधिबाल गजपति ठहरावे।
मृदुताई से विग्रह हटई; खड्गधार नहिं रेशम कटई।

यह कहकर वे केवट मल्ल के पाँव पर गिर पड़े और कहा कि आप हमारे अपराध को क्षमा कीजिए। इस प्रकार कह सुनकर मल्ल को नाव पर बैठाकर आगे चले। कुछ दूर जाकर ऐसे ठौर पहुँचे कि जहाँ जल में एक खंभा खड़ा हुआ था। केवट ने बलवान् पुरुष से कहा कि नाव के लिए यहाँ विघ्न का डर है। सो तुम बली और समर्थ हो। चाहिए कि इस खंभे पर जाकर आप रस्सी को थाँभ लो कि जिससे हम नाव को संभाल लें। यह सुन बलवान् पुरुष अपनी वीरता और पौरुष के घमंड में आकर जिन को सताया था उन्हीं के धोखे में आगया। और उन पर संदेह न किया। जैसा विद्वानों ने कहा है कि जिसके

जी को तू ने सताया हो। पीछे वह तुझे चाहे सौ प्रकारसे प्रसन्न करे, परन्तु उस खेद के पलटे में तू उससे निडर मत रहे। क्योंकि वह मौका पाकर पूर्व वैरी अपना बदला लिए विना नहीं रहता। क्योंकि लिखा है—

कुंडलिया।

बैरी बँधुवा बानिया, ज्वारी चोर लबार।
अपकारी रोगी ऋणी, नगर नारि को यार॥
नगर नारि को यार भूलि परतीति न कीजै।
सौ सौगंदें खाहि चित्त में एक न दीजै॥
कह गिरिधर कविराय बहुत आवें अनघेरी।
हित की कहैं बनाय पेट के पूरे बैरी॥

दोहा।

जो बैरी के बैर को, पीछे देत भुलाय।
सो विपत्ति तरु पालिकै, फल भोगत अकुलाय॥
यद्यपि अरि मृदु होरहै, नहिं कहुँ लखै निबाह।
जबतक दाउँ न आवहीं, मिटै न अन्तस डाह॥

जब बलवान् पुरुष रस्सी लेकर खंभे पर चढ़गया तो केवट ने रस्सी काट दी और नाव ले चला। वह मल्ल दुःखित दशा में घबड़ाया हुआ दो दिन तक उसी खंभे पर काटे वह दो दिन तक विना सोया हुआ भूखा प्यासा रहा। परन्तु तीसरे दिन नींद आ गई और वह बेहोश होकर पानी में गिर पड़ा और एक दिन-रात में बहते-डूबते दूसरे तीरपर जा लगा। शरीर में थोड़ासा जीव रह गया था। जब वृक्षों के पत्ते और घासोंकी जड़ों को उखाड़के खाया तब कुछ सामर्थ्य हुई और धीरे-धीरे एक वनसे दूसरे वनमें जाने लगा। किन्तु इतना चला कि

प्यासके मारे विकल होकर एक कुएँ पर पहुँचा। वहाँ एक जाति के लोग कुछ कौड़ी लेकर पानी पिलाते थे। परन्तु बलवान् पुरुष के पास एक कौड़ी भी न थी। इससे उसने दीनता प्रकटकी और पानी माँगा। पर पानी पिलानेवालों के मन में दया न आई। थोड़ासा भी जल न दिया। तब इसने बलसे काम निकाला और कितनों को ठोंका। अन्त में बहुतसे लोगोंने इकट्ठे होकर बलवान् पुरुषको ऐसा मारा कि उसका शिर फूट गया।

चौपाई।

जब इक मत होवें सब मच्छर ; गजको मारि करें निर्मत्सर।
चींटी सब मिल चेतें मनमें ; बाघ चाम फाड़ें इक छनमें।

फिर पथिकों का एक झुण्ड जाता था। मल्ल उसके पीछे होकर चला। लेकिन रात ऐसे स्थान पर हुई कि जहाँ चोरों का अतिभय था। उस झुण्ड में जितने बटोही थे सब घबरा गए और काँपने लगे। और यह जाना कि अब प्राण नहीं बचेंगे। तब बलवान् पुरुष ने कहा कि तुम लोग मत डरो। इस समय मुझे अकेला मत जानो। मैं अकेला ही पचासके साथ लड़ सकता हूँ। और जो दूसरे मित्र भी सहायता करें तो कितने ही चोर हों तो क्या करसकते हैं। यह बात सुनकर वे लोग दृढ़चित्त हुए और सबके चित्तसे डर जातारहा। उसके साथी होनेसे लोग बहुत प्रसन्न हुए और उसे भली-भाँति खिलाया-पिलाया। बलवान् पुरुष के अन्तसकी आग जो अन्न बिना भड़क रही थी और जो सामर्थ्य घटगई थी जब उसने भोजन किया और पानी पिया। जब पंचभूतात्मा तृप्त हुए तब उसे नींद आगई। बटोहियों के झुंड में एक बहुत वृद्ध था वह बोला

कि हे मित्रो ! इस मार्ग-रक्षक से मुझे वैसीही शंका होती है, जैसी पहिले चोरोंसे होती थी। जैसा कहते हैं कि—

एक कंगालके पास कुछ रुपए आगए थे। वह चोरों के डर से रातभर घर में सोता न था। उसने अपने मित्रों में से एक को अपने पास बुला लिया कि एकसे दो होकर रहें तो अच्छा है। वह कितने ही समय तक रातको उसके साथ रहता रहा। एक दिन घात पाकर रुपया लेकर चल दिया। सबेरे जो रुपया न देखा तो कंगाल रोनेलगा। किसी ने पूछा कि क्या समाचार है ? तुम्हारे रुपए को चोर तो नहीं लेगया। वह बोला कि नहीं मेरा साथी ही लेगया है।

सोरठा।

मैं न रहूँ निःसंक, साथी के लखि प्रकृति गुन।
चोखो अरि को डंक, दरसावत सुभ मित्रपन॥

हम सब क्या जानें, यदि चोरों में से यह भी हो और हमारे बीच मित्र बनकर छिपा हो। संयोग पाकर चोरोंको बुलावे। अतः हमारे लिए यह बात उचित है कि यह अभी सोता है; आओ अपनी वस्तु लेकर यहाँ से उठ चलें। वृद्ध की शिक्षा सब साथियों को अच्छी लगी और बलवान् पुरुष की ओर से अन्तःकरण में भय समागया। अतः सब अपनी गठरी-मोटरी उठाकर उसे सोता छोड़ वहाँसे चल दिए। जब सूर्य की किरणें मल्लके ऊपर पड़ीं तो जागउठा और देखा तो कोई भी मनुष्य पास नहीं था। घबड़ाकर इधर-उधर फिर कर देखा। मगर कहीं पता न चला और प्याससे मुँह सूख गया। उससमय चित्तकी उद्विग्नतासे वह यह कहनेलगा—

चौपाई।

परै पथिक पर वह कठिनाई। जो न दीख कहुँ पथ दुखदाई।

मल्ल आरत होकर इस प्रकार कह रहा था कि उधर समीप ही एक शिकरी राजपुत्र, इसको देखता हुआ, उसकी ये बातें सुन रहा था । इसके शुद्ध रूप को देखकर राजपुत्र ने इससे पूछा कि तू कहाँ का रहनेंवाला है और इस स्थान में क्यों पड़ा है? यह बात सुनकर मल्ल ने अपनी बीती बातें कहीं । राजपुत्र को उसकी विपत्ति-दशा देखकर दया आई। उसने पारितोषिक और उत्तम पदार्थ दिया और संतुष्ट करके अपने एक विश्वासी मनुष्य को, यह कहकर साथ कर दिया, कि इसको इसके नगर तक पहुँचा आवे। जब वह अपने नगर में फिर आया तब उसे देख उसका पिता बहुत हर्षित हुआ और अपना भाग्य धन्य माना। जब वह रातको अपना वृत्तान्त कहने लगा, जो उसपर बीता था, तो उसके बाप ने कहा कि हमने तुमसे पहिले ही कहा था कि जाने के समय निर्द्धनों का हाथ बँधा रहता है और सिंह के समान सामर्थ्य हाथ में नहीं रहती। जैसा कि एक निर्द्धन सिपाही ने कहा था कि पचास मन बलसे जौ भर सोना भला होता है। पुत्र ने कहा कि मनुष्य जब तक दुःख नहीं सहता, तब तक धन नहीं मिलता । और जब तक अपना जी नहीं संकल्प देता तब तक शत्रु से नहीं जीतता। जब तक नाज नहीं माड़ा जाता तब तक दाना नहीं निकलता । तुमने नहीं देखा कि थोड़े से क्लेश होने में मैंने कितनी ही प्रसन्नता प्राप्त की और एक डंक की पीड़ा उठानें में कैसा अपूर्व मधु लाया हूँ।

चौपाई ।

लिखो अहार मिले सबही को । आलस तजि उद्यम अति नीको

सोरठा।

जो जल जंतु डराहिं, नहिं जल डूबें मरजिया।
किमि मोती मिलि ताहि, जाते जीवे निसि दिवस॥

चक्की के-नीचे का पाट इस कारण बोझको सहताहै कि चलता-फिरता नहीं।

दोहा।

मृगा पड़े नहिं बाघ के, मुँह में बिलके बीच।
पक्षी मिले न बाज को, जो पड़ि रहे न मीच॥
जो अहेर कोई चहे, घर बैठे मिलि जाय।
तो मकरी की वृत्ति को, ग्रहण करै चितलाय॥

बाप ने बेटेसे कहा कि ईश्वर ने तेरी सहायता की है और तेरा भाग्योदय है कि तुझसे भाग्यशाली पुरुष से भेंट होगई। और उसने तेरी आपत्तिदशा पर कृपा-दृष्टि की। परन्तु ऐसा संयोग थोड़ा पड़ता है। सो तेरे आधीन नहीं है। क्योंकि अहेर में सदा यह नहीं होता कि अहेरी नित्य ही गीदड़ को मार ले जावे। बरन् ऐसाभी होता है कि उसको किसी दिन बाघ फाड़ डाले। जैसा एक पारस के राजा ने एक भारी दामकी अंगूठी लक्ष्य के स्थान में लटका दी और कहा कि जिसका तीर इसमें लगे वह यह अंगूठी लेजाय। चार मनुष्यों ने तीर चलाया पर उनमें से किसी का तीर न लगा। एक लड़का अपने कोठे पर खेलने की भाँति तीर चलाता था। पवन की प्रेरणा से उसका तीर अंगूठी में जाकर लगा। राजा ने लड़के को अंगूठी समेत बहुत पारितोषिक दिया। फिर उस लड़के ने तीर धनुहीं को जला दिया। लोगों ने पूछा कि यह क्या किया? वह बोला कि बस इसकी शोभा यहीं तक है।

सोरठा।

कबहुँ होत संयोग, यतन बनत नहिं चतुर से।
पड़त आइ अस योग, बालक बेधत लक्ष्य वर।

पुनः।

एक मनुष्य कहीं से माँग-जाँच कर रोटी बनाता था। परन्तु उसके पास सालन का मसाला न था। इसलिए वह सोच में था कि किसी प्रकार सालन का मसाला मिले। उससे किसी निर्बुद्धि ने कहा कि तुम जाकर सदाव्रत के भंडारसे मसाला लूट लाओ और आनन्द से सालन बनाकर खाओ। यह सुनकर वह दौड़ा हुआ गया और हाथ डालकर बर्तन से मसाला लेने लगा। तब भंडारी ने ऐसा डंडा मारा कि एक हाथ टूट गया और अंगरखेकी बाँहीं भी फटगई। तब वह दूसरे हाथ से टूटा हुआ हाथ पकड़े रोता और यह कहता था कि जैसा कर्म मैंने किया वैसा फल पाया। घर की रोटी घरही में पड़ी है और मैं विपत्तिमें आ फँसा। सच कहा है कि—

दोहा।

सूखी रोटी है भली, टहल किए जो पाउ।
दानी के पकवान पर, नहिं चित कबहुँ चलाउ॥
जा पर भोजन देखिकै, राखैं निज अभिलाख।
सोवत-जागत रात-दिन, सो दुख पावे लाख॥

पुनः।

एक बड़ा प्रतापवान् राजा था। परंतु उसके कोई लड़का नहीं था। जब वह मर गया तब लोगों ने किसी प्रधान को राजगद्दी पर बैठाया। जब वह राजा हुआ तब उसने

डंका बजवाकर फौज तैयार कराई और इधर-उधर चढ़ाई करने लगा। उससे चारों ओर के शूरवीर लड़ने लगे और वह ऐसा प्रबल होगया कि बड़े-बड़े लड़ाकों से लड़ता था। उसने बहुत से शत्रुओं को मारा। जब उससे लोगों को बड़ा दुःख पहुँचा। तब चारों ओर के बहुत से शत्रु इकट्ठे हुए और सभों ने प्रधान को चारों ओर से घेर लिया और कोट में बन्द करके उसे तीरों और पत्थरों से बहुत मारा। जब वह अधिक दुःखी हुआ, तब उसने एक तपस्वी के पास कहला भेजा कि मैं बड़े क्लेश और बन्धन में पड़ा हूँ। मेरे लिए आप कुछ परमेश्वर का आराधन करके सहायता कीजिए। जिससे मैं आपत्ति से बचूँ। इस लड़ाई में मेरा कोई शस्त्र काम नहीं आता। यह बात सुनकर तपस्वी ने कहा कि आधी रोटी खाकर क्यों नहीं सो रहा। किसी कवि ने सत्य कहा है कि—

दोहा।

नहिं लखपति नहिं कोटपति, नहिं कुबेर को होय।
संतोषी जो पाइ सुख, रहै कोन में सोय॥

पञ्चदश तरङ्ग।

कृतज्ञता और कृतघ्नता।

दोहा।

मेटै कृत उपकार को, और करै अपकार।
सो है पतित कृतघ्न नर, दुर्गति लहै अपार॥

उपाख्यान।

पश्चिम देश में दुर्जय नामका, सुप्रतीक राजा का पुत्र, एक बड़ा प्रतापी राजा था; जिसने अपने बाहु-बलसे देश-देशांतर के राजाओं को जीतकर अपने आधीन कर लिया।

किसी समय चतुरंगिणी सेना-समेत किसी देशके राजा के जीतने के लिए जाता था। मार्ग में एक ऐसा बड़ा वन मिला कि जहाँ बहुत दूर तक ग्राम न मिलता था। कई दिन तक चलते-चलते बीत गए परन्तु उस वन का अंत न मिला, और राजा की सेना में जो खाने-पीने की वस्तु थी वह भी चुक गई। उस वन में कहीं ग्राम या नगर दिखलाई नहीं देता था। सारी सेना क्षुधासे विकल थी। परन्तु इस आशा से कि कोई आगे ग्राम अथवा नगर अवश्य मिलेगा, चली जाती थी।

निदान एक ऐसा रमणीक वन मिला कि जिसमें बड़े शोभायमान हरे-भरे वृक्ष दिखाई दिए और भाँति-भाँतिके पक्षी नाद कररहे थे। नदीके तट पर तपस्वियों की छोटी-छोटी कुटियाँ बनी थीं। उनमें तपस्वी लोग भजन-भाव करते थे।

जब राजा की सेना वहाँ पहुँची तब राजा ने तपस्वियों से पूछा कि तुम सभोंमें बड़ा तपस्वी कौनहै? उन्होंने कहा कि पृथ्वीनाथ! हमारे सबके स्वामी और गुरु गौरमुखनामी मुनि बड़े महात्मा हैं। उन्हीं से हम लोग पढ़ते-लिखते हैं और तपस्या की रीति सीखते हैं। निदान तपस्वी लोग राजा दुर्जय को गौरमुखमुनि के निकट ले गए। राजा ने मुनि को साष्टांग दण्डवत् की और कहा कि मैं सुप्रतीक राजा का पुत्र दुर्जय हूँ। आज बड़ा पुण्य उदय हुआ कि आप ऐसे महात्मा का दर्शन मिला।

मुनि ने कहा कि हमारे लिए भी आज का दिन बड़ा शुभदायी हुआ कि आप प्रजापालक पृथ्वीनाथ ने इस भिक्षुक की पर्णकुटीको सुशोभित किया। क्यों न हो राजाओं की यह परम्पराकी रीति ही है कि दीनों और भिक्षुकों पर कृपादृष्टि करते रहते हैं। राजाने कहा कि आपकी आज्ञाहो तो सेना आगेको बढ़े क्योंकि इस स्थान पर रहने में तपस्वियोंको पीड़ा होगी। मुनिने कहा कि मेरी प्रसन्नता इस बातमें है कि आपकी सेना आज इसी स्थानमें ठहरकर विश्राम करे और जो कुछ फल-मूल इस कुटीसे प्रसाद मिले उसको अंगीकार करे। यह बात सुन राजाने कहा कि बहुत अच्छा आज रात भर इसी पवित्र स्थानमें रहूँगा। परंतु राजाको महात्माकी बात से आश्चर्य हुआ कि यह मुनि इस अपार सेनाकी पहुनाई किसप्रकार कर सकेगा।

जब वहाँसे उठकर राजा अपने डेरेपर गया तो गौरमुख मुनि यह विचारने लगे कि मैंने राजाको टिका तो लिया पर उसकी पहुनाई किस यत्नसे होसकेगी। यही सोचते

हुए मुनि नदी के तट पर गए और ईश्वरका ध्यान और स्तुति करनेलगे कि हे दीनबन्धु ! मैं बार-बार प्रभु से यही प्रार्थना करता था कि मुझे किसी बातकी आकांक्षा न हो, और ऐसाही हुआ भी है कि भजन के विशेष दासको किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं हुई। परंतु आज मैंने राजा को टिकाया और उसके साथ अनेक जीव क्षुधासे व्याकुल हैं। इसलिए प्रार्थना करता हूँ कि उन्हें आहार आदि कराके उनका यथोचित सत्कार कियाजाय।

जब इसप्रकार गौरमुख ने स्तुति की तब अकस्मात् बिजली के समान एक मूर्ति प्रकट हुई। उसने मुनिके हाथपर एक प्रकाशित मणि, जिसकी ज्योति आकशतक फैली थी, देकर कहा, कि तुम्हारी प्रार्थना अंगीकार हुई। इसलिए इस दिव्यमणि को ग्रहण करो इसका नाम चित्त-सिद्ध-मणि है—अर्थात् जो चित्त में मनोरथ हो उसको यह सिद्ध करती है। तुम इसको स्थापित करके जिस काम की अभिलाषा करोगे वही प्राप्त होगा। इतना कहकर वह मूर्ति अन्तर्द्धान होगई।

तब गौरमुखमुनि ने प्रसन्नचित्त हो मणिको एक स्थान पर रखकर कहा कि हे प्रभुकी मणि ! मेरा यही प्रयोजन है कि आज रात्रिभर राजा दुर्जय और उसकी सेनाकी जो अभिलाषा हो वह पूर्ण होवे। इतना कहके मुनि अपनी कुटी में बैठ पूर्ववत् भजन करनेलगा। इसके अनन्तर उसका ज्यों-ज्यों प्रकाश बढ़ताथा त्यों-त्यों उस मणिके निकट सब वस्तुओं का ढेर होता जाता था। और भी अनेक प्रकार के दिव्य टहलुवे और टहलुनी प्रकट हुई। उन्होंने अनेक प्रकार के बड़े-बड़े डेरे खड़े कर दिए। राजा और राजा की सेना

में से जिसको जिस वस्तु की अभिलाषा होती थी उसे वही वस्तु देते थे। यहाँ तक कि सारी सेनाको खाने, पीने, ओढ़ने आदि की वस्तुवों से दैव-प्रेरित सेवकों ने रात्रिभर सुख दिया। प्रातःकाल होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि लेकर वे दिव्य सेवक अन्तर्द्धान होगए। किन्तु इस शिष्टाचार को देख राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इस तपस्वी की कुटी में कोई वस्तु न थी, परन्तु रात्रि भर अनेकप्रकारके पदार्थों से हमारी सेना की पहुनाई हुई। जो वस्तु कभी खाने-पीने में नहीं आई थी वह वस्तु आज खाने को मिली। यह बात सोचकर राजा ने अपने भेदियों से पूछा कि इस सिद्धि का क्या कारण है? उन्हों ने कहा कि पृथ्वीनाथ! मुनिको एक ऐसी अद्भुत दिव्य मणि मिली है कि उसके निकट जो अभिलाषा करे सो प्राप्त होती है और कोई कारण नहीं है। हमने भली-भाँति निश्चय किया है।

यह बात सुन राजा ने एक विशाल नाम प्रधान से कहा कि तुम जाकर मुनि से कहो कि वह मणि हमको दे दे। उसके पलटे में जितना धन-रत्न माँगें, उनको मिलेगा। इस मणि के मिलने से हमारा बड़ा प्रयोजन निकलेगा। जहाँ कहीं डेरा पड़ेगा इसी के द्वारा सब सामग्री प्राप्त हो जायगी, विशेष कर लड़ाई में कि जिस समय बहुधा शत्रु लोग चारों ओर से सामग्री का आना-जाना बन्द करदेते हैं तब इस से बड़ा अर्थ निकलेगा। राजा के वचन सुनकर प्रधान ने कहा कि पृथ्वीनाथ! आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है। परन्तु कुछ निवेदन किया चाहता हूँ। यदि आज्ञा हो तो कहूँ। राजा बोला कि बहुत अच्छा, जो तुम्हारे जी में हो सो कहो। किसी बात का संदेह न रक्खो।

विशाल नाम प्रधानने कहा कि सुनो पृथ्वीनाथ! सेवकों का यही धर्म है कि स्वामी जो आज्ञा दे उसका प्रतिपालन करे। परन्तु राजा के निकटवर्त्ती सेवकों—अर्थात् मंत्रियों और प्रधानों—को इतनी विशेषता होनी चाहिए कि जो आज्ञा हो प्रथम उस आज्ञा का मूल कारण और प्रयोजन और काम समझ लें; और यह सोच लें कि स्वामी वास्तव में आज्ञा देता है या आज्ञा के बहानेसे परीक्षा लेता है। जो बात बुद्धि करके निश्चय हो अन्त में उसका बर्ताव करें। जो विना बिचारे स्वामी की आज्ञा के अनुकूलवर्ती होजाते हैं उनकी पीछे से बड़ी अप्रतिष्ठा और लघुता होती है। जैसे राजा धर्मशील के सभासदों की हुई।

राजा दुर्जय ने कहा कि यह कैसी बात है। प्रधान ने कहा कि राजा धर्मशील की सभा में स्त्री-समेत एक वैश्य ने जाकर यह कहा कि पृथ्वीनाथ! मेरे देश में अकाल पड़गया है। यदि आज्ञा हो तो आप के देश में कुछ दिन रहकर कालक्षेप करूँ। राजाने कहा कि बहुत अच्छा। जहाँ जी चाहे सुखपूर्वक रहो। तुमको किसी प्रकार का भय न होगा।

वह वैश्य उस दिन से राजा के राज्य में टिकके व्यापार करता रहा। जब उसके देशमें सुकाल हुआ तब उसने अपने देश के जाने का विचार किया और राजा के निकट जाकर कहा कि महीनाथ! आपका राज-पाट बना रहे और ईश्वर दिन-प्रति-दिन ऐश्वर्य्य बढ़ावे। मैंने आपकी शरण में बड़ा सुख पाया। अब आप से बिदा होने के लिए आया हूँ। राजा ने कहा कि जो हमारे-तुम्हारे बीच में वचन प्रमाण हुआ है उसे पूरा करके चले जाओ। उसने

कहा कि पृथ्वीनाथ ! मुझे कुछ स्मरण नहीं है । जो बात मैंने कही हो सो कहिए । राजा बोला कि तुमने कहा था कि चलने के समय अपनी स्त्री महाराजको दूँगा ।

सो स्त्री हमारे निकट छोड़कर चले जाओ । वैश्य ने कहा कि पृथ्वीनाथ ! मैंने यह वचन नहीं कहा था । परंतु आप राजा हैं । जो कहें सोई ठीक होगा । यह बात सुन कर राजा धर्मशील अपने सभासदों की ओर देखकर कहने लगा कि हमारे पास इस बातके कई साक्षी विद्यमान हैं । राजाकी यह बात सुन सभा में जो धर्मिष्ठ और बुद्धिमान् सभासद् थे, वे नीचे शिर झुकाकर चुपरहे, और सारी सभावाले एक संग बोल उठे कि यह तो हमारे सम्मुख ही की बात है । जब यह पहिली बार आया था तब खुली कचहरी में इसने स्त्री देने का वचन प्रमाण किया था । जब इस प्रकार साखियों से वैश्य का वचन कहना निश्चय होगया तब वह बनिया स्त्री के वियोग होने के दुःखमें विकल होकर थोड़ी देर तक चुप होरहा । किन्तु राजा धर्म्मशील की आँखों से आँसूकी धारा बह चली । यह चरित्र देखकर बनिया और भी घबड़ा उठा और राजा से हाथ जोड़कर बोला कि पृथ्वीनाथ ! यह उलटी बात कैसी होती है । क्योंकि रोना तो मुझे चाहिए कि जिसकी स्त्री छीनी जाती है । और आप क्यों रोते हैं ? राजाने कहा कि सुन वैश्य, तेरा और हमारा दुःख एकसा नहीं है । क्योंकि तेरी स्त्री छिन जायगी तो फिर दूसरी स्त्री मिल सकती है, और मेरा धन, धर्म, राज्य सब बिगड़ना चाहता है कि जिसका मिलना फिर कठिन है । क्योंकि मेरी सभा में ऐसे-ऐसे अधर्मी और मिथ्यावादी एकत्र हैं

जो मुझे जड़ से उखाड़ना चाहते हैं। जिसकी सभामें ऐसे अधर्मवादी हों उसके विनाश में कुछ सन्देह नहीं है। इस प्रकार राजा को क्रोधित देख जिन्होंने मिथ्या साखी दी थी सूखकर मृतक के समान होगए। राजा धर्म्मशील ने उस वैश्य को स्त्रीसमेत आदर से बिदा किया और जो उस समय चुप थे उनको छोड़कर जितने मिथ्यावादी प्रधान थे उन सबको राज्यसे बाहर निकाल दिया। ठीकही कहाहै—

दोहा।

संग कुसंगति पाय के, जाको अटल विवेक।
नृप भूषण ताको कहत, जाहि राज की टेक॥

देखो ऐसी उत्तम परीक्षा से राजा धर्म्मशील ने बुरे भलों की कैसी पहिचान करली। इसलिए मैं डरता हूँ कि आपकी वैसी आज्ञा तो नहीं है। दुर्जय राजा ने कहा कि हम अंतःकरण से आज्ञा देते हैं कि तुम मुनि से जिस प्रकार पाओ मणि ले आओ और जो इसमें तुम्हें और कुछ कहना हो तो कहो प्रधान बोला कि पृथ्वीनाथ सेवक को आज्ञा-पालन को छोड़ और क्या अधिकार है। परंतु शुभचिंतक सेवक का धर्म्म है कि अपने प्रभु को जान-बूझ कर नीति-रूपी पुष्पवाटिका से अन्याय-रूपी कंटक-वन में सामर्थ्य भर न जाने दे। इसलिए कुछ निवेदन करता हूँ कि सृष्टिकर्त्ता ने जब भाँति-भाँति की सृष्टि बनाई और प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् कर्म नियत करदिए, जिस से कोई निरुद्यम न रहें। कुछ उद्यम करके अपने आहार को आप उत्पन्न कर सकें और वस्तु, धन, रचना या विद्या-गुण के द्वारा आपस में एक दूसरे के सहायक हों; जिससे कोई विना आहार न रहे। बहुत से मनुष्यों के

एक स्थानपर रहने से यह बात सम्भवित हुई कि प्रत्येक मनुष्य इन्द्रियों के वश होकर अपने लाभ के लिए दूसरे की हानि का ध्यान न करे—अर्थात् आपस में एक दूसरे के पदार्थ छीने न जायँ—जिससे भाँति-भाँति के उपद्रव उठते हैं। इसलिए उसकी प्रेरणा से ऐसा अनुभव हुआ कि एक कोई ऐसा न्यायकर्त्ता हो जो अपनी सामर्थ्य के कारण सबसे प्रबल रहे और सब को अपने अधीन रक्खे। कुलीनों और सत्पात्रों को अन्यायियों और उपद्रवियों के अन्यायसे बचावे और ऐसा प्रबंध करे कि सब आपसमें प्रसन्न रहें। सो ऐसे प्रबंधकर्त्ता को महात्माजन राजा कहते हैं। मनुष्य के लिए यह पदवी बहुत बड़ी है। यहाँ तक कि राजा को ईश्वर का बड़ा अंश कहते हैं। इसलिए राजाको चाहिए कि न्याय और प्रजापालन और दुष्टों को दण्ड आदि काम में तत्पर रहे। प्रथम ऐसा प्रबंध होना चाहिए कि जो ऐसे सज्जन और सत्पुरुष हों कि जिनकी सज्जनता का फल औरों को पहुँचता है। उनको सृष्टि में उत्तम समझकर प्रतिष्ठित रक्खे। उन्हें राज्यकार्य का अधिकार दे। दूसरे जो मनुष्य सज्जन हों परन्तु उनकी सज्जनता का गुण दूसरे को न पहुँचे उनको भी प्रिय रखना उचित है। तीसरे वे मनुष्य जो न बुरे हों न भले। उनको भलाई की अभिलाषा दिलानी चाहिए। चौथे जो स्वयम् दुर्जन हों परन्तु उनकी दुर्जनता का अवगुण दूसरों को न पहुँचे। उनको दुःखी और खेदित रक्खे और सदैव ताड़ना करता रहे, जिससे धीरे-धीरे अच्छे हो जायँ। पाँचवें वे मनुष्य जो आप बुरे हों और उनकी बुराई का अवगुण दूसरे को भी पहुँचे। उन्हें महादुष्ट और सृष्टि में अधमतर समझकर देखता रहे

और जब अपराध निश्चित हो तब उनको कठिन दण्ड दे। उन्हें बन्दी में रक्खे और या उसपर भी न मानें तो देश से निकाल दे।

न्याय के लिए राजा में चार बातें अवश्य होनी चाहिए। प्रथम राजा बुद्धिमान् हो। दूसरे किसी मत का पक्ष विपक्ष न रक्खे। तीसरे न्याय-सभा में सबको आने की आज्ञा दे। चौथे इंद्रियों के वश होकर किसी की वस्तु पर अन्याय से अभिलाषा न करे। बरन् अन्याय-सहित वस्तु को मट्टी और तृण से भी तुच्छ समझे। इन चार धर्मों से विशेष एक यह परम धर्म है कि जो अपने साथ उपकार करे उसका भी कुछ उपकार करे और जो प्रत्युपकार करने की सामर्थ्य न हो तो उपकार को मानता रहे और उसके साथ अपकार न करे। क्योंकि उपकार तोड़ने के समान पृथ्वीतल में कोई पाप नहीं है। जैसा लिखा है—

दोहा।

चोर जुआरी अधम खल, लंपट की गति मान।
नहिं कृतघ्न की होत गति, यह निश्चय नृप जान॥

और यह बात मैं अपनी उक्ति से नहीं कहता बरन् शास्त्र में निर्णय-समेत इसका ब्यौरा लिखा है।

श्लोक।

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च ये च विश्वासघातकाः।
त्रयस्ते नरकं यांति यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

मित्र से द्रोह करनेवाला, उपकार का न माननेवाला और विश्वास देकर घात और छल करनेवाला, ये तीनों, जबतक आकाश में सूर्य और चन्द्रमा हैं, तबतक नरक में रहते हैं। हे राजन्! परलोक में तो अवश्य कृतघ्न की दुर्गति

है परन्तु इसलोक में भी दुर्दशा और दुर्यश होता है। जैसी एक अनाचारी की दुर्दशा हुई। राजा दुर्जय बोला कि अनाचारी की कथा कैसी है।

प्रधान ने कहा कि सुनो, मैं एक कृतघ्न की वार्त्ता आप से कहता हूँ। उसको आप श्रवण कीजिए। फिर जैसा मन में आवे वैसा कीजिएगा। राजा ने कहा कि बहुत अच्छा। प्रधान ने कहा कि महाराज! मगध देश में एक श्रुतिपाल नाम ब्राह्मण के तीन पुत्र थे। जेठे का नाम बुद्धि-शाली, मँझिले का नाम अनाचारी और छोटे का नाम रुद्रशर्मा था। जेठा और लहुरा ये दोनों पुत्र बड़े धर्मनिष्ठ और भलेमानसों की संगति में बैठते-उठते और विद्या गुण सीखते थे। वे अपनी कुल परम्परा की रीत्यनुसार अन्याय अधर्म से डरते थे और पिता भी उन दोनों का चाल-चलन देख बहुत प्रसन्न होता था। मँझिला पुत्र जिसका नाम अनाचारी था वह वास्तव में अनाचारी हुआ। जहाँ चोर उचक्कों का समागम होता उसी स्थान में बैठता-उठता और पढ़ने-लिखने में रुचि न करता। एक तो वह निज प्रकृति से सज्जन न था दूसरे नीचों की संगति हुई इससे सम्पूर्ण बुद्धि नष्ट हो गई। लिखा भी है—

चौपाई।

को न कुसंगति पाय नसाई। रहे न नीचमते चतुराई॥

जब उस से अनेक अनुचित कर्म हुए तब उसे लोकापवाद और दुर्यशकारी समझ कर पिता ने घर से निकाल दिया। वह किसी पहाड़ के जंगल में चला गया। वहाँ एक चोरों की बस्ती थी। उसी स्थान में जा पहुँचा। वहाँ के लोगों ने उसको पकड़ कर जो उस ग्राम में चोरपति था,

उसके पास ले गए कि यह किसी राजा का भेजा हुआ हमारे लोगों में भेद लेने के लिए आया है। तब अनाचारी ने चोरपति से अपना वृत्तान्त सुनाया और कहा कि मैं घर से निकाला हुआ आया हूँ। अब आपकी शरण में प्राप्त हूँ। जैसा आपके जी में आवे वैसा करें। चोरपति ने उसको कुलीन और स्वरूपवान् देखकर अपनी कन्याके साथ उसका ब्याह कर एक घरमें टिका दिया। तब से वह अनाचारी चोरपति की कन्या के साथ उसी स्थान में रहने लगा और उन्हीं के समान वह भी अहेर में पशु-पक्षी मार लाता और स्त्री-समेत खाता।

इस प्रकार वह उसी स्थान में बहुत दिन तक रहा। किसी समय अनाचारी के स्थानपर एक योगी उसी के देश का प्राप्त हुआ। अनाचारी ने उसे स्वदेशी जानकर टिकाया और बहुत आगत-स्वागत किया। दूसरे दिन योगी के पास बैठा बातकर रहा था कि किसी पक्षी को वृक्ष पर देखकर उसने ऐसा तीर मारा कि पक्षी मृतक होकर गिर पड़ा। तब योगी ने कहा कि तू ऐसा कुलीन होकर क्यों जीवहिंसा करता है। यह वृत्ति तुम्हारे कुल की नहीं है। कि थोड़े से मांस के लिए तुमने जीव की हत्या की। अनाचारी ने कहा कि बाबाजी! आप एक पक्षी को देखकर आश्चर्य करते हैं मैं सहस्रों पशु-पक्षी महीने में मारता हूँ। कुछ आप खाता हूँ कुछ औरों को खिलाता हूँ। योगी ने कहा कि मनुष्य को जब तक नाज आदि खाने को मिले तब तक जीव-हिंसा न करनी चाहिए। तुमने दस्युजाति में बसकर अपने कुलधर्म को नष्ट कर दिया। अब भी अच्छा है कि अपने परम्पराके धर्म को समझो।

इतना कहकर योगी दूसरे वनमें चला गया। उसके समझाने से यद्यपि अनाचारीको परिपक्व ज्ञान तो न हुआ परन्तु इतनी ग्लानि उत्पन्न हुई कि मैंने दस्युजाति में रहकर अपना लोक-परलोक नष्ट कर दिया। इतना सोचकर वह रात के समय वहाँ से भागा। परंतु पंथ भूलकर एक बड़े भयंकर वन में चला गया और दो दिन तक चलता रहा। कहीं मनुष्यों की बस्ती न मिली। तीसरे दिन एक बड़ा भारी वट-वृक्ष मिला जिसपर अनेक पक्षियों के बोलने का शब्द सुनाई देता था। वहाँ पर इस विचार से गया कि किसी पक्षी को मारकर भोजन करूँ। जब वहाँ जाकर देखा तो बगुलों का राजा, एक बड़ा भारी पक्षी, जिसका नाम राज-धर्म्म था, अनेक पक्षियों के बीच में विराजमान था। उसमें इतनी चैतन्यता थी कि वह अनेक जीवों की बोली बोलता और समझता था। वह अनाचारी का अपूर्व रूप देखकर कहा कि तुम्हारा आकार इस देश के मनुष्यों कासा नहीं है। तुम कौन हो और किस प्रकार यहाँ तुम्हारा आना हुआ?

अनाचारी ने अपनी सम्पूर्ण व्यवस्था वर्णन करके कहा कि मैं बस्ती ढूँढ़ता हूँ कि कहीं ठिकाना मिले तो वहाँ टिकूँ। आज मुझे कुछ भोजन भी नहीं मिला। इससे मेरा प्राण व्याकुल है। यह बात सुन राजधर्म्म बकराज ने कहा कि यहाँ मनुष्यों की बस्ती नहीं है। जहाँ-तहाँ राक्षस रहते हैं। यदि वे तुझे पाएँगे तो खा डालेंगे। इसलिए तुम इसी स्थान में रहो और तुम्हारे भोजन का भी उपाय कर देता हूँ। सबेरे कुछ विशेष उपकार करूँगा।

इतनी बात कहकर बकराज ने बगुलों से कहकर बड़े-बड़े

मत्स्य मँगवा दिए । अनाचारी ने उन्हें भूनकर रुचि-पूर्वक भोजन किया । पत्ते बिछाकर उसी स्थान में सोरहा । प्रातः-काल के समय राजधर्म्म के पास जाकर अनाचारी ने कहा कि मुझे बिदा कीजिए । राजधर्म्म ने कहा कि यहाँसे बारह कोस पर विरूपाक्ष नाम के राक्षसों का राजा मेरा मित्र बड़ा धनवान् है । तू उसके पास जा । मेरे सन्देश से वह तुझे बड़ा धन देगा । तब तुम धन लेकर आना । मैं तुझे बिदा करूँगा । इस प्रकार समझाकर राजधर्म्म ने अनाचारी को विरूपाक्ष राक्षसराज के पास भेज दिया।

अनाचारी ने वहाँ जाकर अपना सारा वृत्तान्त और राज-धर्म्म बकराज का संदेश कह सुनाया और कहा कि उसने मुझको दरिद्री देख आपके पास भेजा है । सो मुझे कुछ धन मिले । विरूपाक्षने अपने प्यारे मित्र बकराज के कुशल-क्षेम का सब वृत्तान्त पूछकर कहा कि मैं तुम्हारे आने से बहुत प्रसन्न हुआ । क्योंकि तुम हमारे मित्र के मित्र हो; यहाँ तुम्हारी विधिपूर्वक सेवा होगी । निदान राक्षसराजने उसको टिकाकर खिलाने-पिलाने आदिसे बड़ा सत्कार किया। दूसरे दिन अपने भंडारमें लेजाकर खड़ा कर दिया और कहा कि जितना सुवर्ण तुमसे जासके, उतना लेजाओ। अनाचारी मन-माना सोना लेकर फिर बकराज के स्थान को चला। उसी समय राक्षसराज ने एक राक्षस को बुलाकर कहा कि तू छिपकर इसके साथ जा और उस स्थानमें छिप कर देख कि हमारे मित्र बकराज से और भिक्षुक से कैसी मैत्री है । यदि इससे और बकराज से यथार्थ मैत्री हो तो तू लौट आना और यदि यह कपटी हो और दूसरी ओर को जाय तो तू इसे हमारे पास वापस लाना ।

इस प्रकार विरूपाक्ष के वचन सुन कर वह राक्षस अनाचारी के पीछे-पीछे छिपा हुआ चला गया। जब अनाचारी वट वृक्ष के पास पहुँचा। तब राजधर्म्म अनाचारी को प्रसन्न देखकर हर्षित हुआ और जाना कि इस भिक्षुक का कार्य्य सिद्ध हुआ। फिर पूछा कि भाई, तुम ने क्या पाया। उसने सुवर्ण की मोटरी दिखा दी और कहा कि मुझे जन्म भर के निर्वाह के लिए मन-माना धन मिल गया है। राजधर्म्म ने कहा कि मैं विरूपाक्ष का बड़ा कृतज्ञ हूँ कि मेरे भेजे हुए अभ्यागतका उन्होंने यथोचित सत्कार किया। इसके अनन्तर अनाचारी को उत्तम-उत्तम फल मँगाकर खिलाए। दोनों की बात-चीत वह राक्षस, जिसको विरूपाक्ष ने भेजा था, छिपा हुआ सुनता रहा। फिर दोनों सो गये। उसके पीछे राक्षस को भी नींद आगई। जब थोड़ी सी रात रहगई तब अनाचारी उठ कर सोचने लगा कि आज मुझे बाट चलना होगा। पंथ में कहीं आहार मिले या न मिले। इसलिए यहाँ से कुछ आहार लेता चलूँ तो बहुत अच्छा हो। उसने यह मन में सोच कर आग जलाई और उजियाला किया। और इधर-उधर कुछ आहार ढूँढ़ने लगा।

जब कोई आहार न मिला तब उसने अपने स्वभाव के अनुसार घोर पाप ठाना कि मैं व्यर्थ इधर-उधर घूमताहूँ। इसी राजधर्म बकराज को जो मांस का ढेर है, मार कर इसका माँस यदि मिल जाय तो कई दिन के लिए छुट्टी पाजाऊँ। इस प्रकार पाप-मति से धनुष में बाण को लगाकर सोते हुए राजधर्म को मारा। वह प्रथम तो पक्षी की बोली में चिल्ला उठा। फिर दूसरा बाण मारने के लिए धन्वा में लगाते

देख कर कहने लगा कि हाय हत्यारे, मेरा प्राण क्यों मारता है ? मैंने तेरा क्या बिगाड़ा है ? दूसरा बाण भी मारनाही चाहता था कि इतने में विरूपाक्ष का भेजा हुआ राक्षस चिल्लाहट सुनकर जाग उठा और वह ऐसा गर्जा कि उसके शब्द से अनाचारी के हाथसे धनुष गिर पड़ा। उस समय उस राक्षस ने दौड़ कर अनाचारीके एक ऐसा चपेटा मारा कि अनाचारी की नाक, कान, मुख और आँख से रुधिर बहने लगा। फिर वह राक्षस राजधर्म्म के पास गया और उसे उठा कर कहने लगा कि आपने नीचका जैसा उपकार किया वैसा फल पाया। मुझे विरूपाक्ष ने इसे नीच और धर्म-भ्रष्ट समझ कर इसके पीछे कर दिया था। पश्चात्ताप है कि मुझे नींद आगई और इसने आपके एक बाण मार दिया।

राजधर्म बोला कि भाई ! ऐसा यत्नकरो कि मैं विरूपाक्ष से भेंट करके तब प्राण छोड़ूँ। राक्षस ने कहा कि आप धीरज धरिए। मैं आपकी व्यथा निवारण का अभी उपाय करता हूँ। इतना कहकर उस राक्षस ने अनाचारी के दोनों हाथ बाँधकर वृक्ष में लटका दिया और वन में से एक औषध खोद लाया। उसे एक पत्थर पर पीस कर, जहाँ पर वह बाण घुसा था, वहाँ लगादी। एक दूसरी औषध राजधर्म को सुँघादी। उसके सूँघते ही बकराज को नींद आगई और उस औषध के लेपन से क्षणभर में वह बाण आपसे आप निकल आया और व्यथा जाती रही। तब वह राक्षस राजधर्म को कन्धे पर चढ़ाए और अनाचारी को रस्सी से बाँधकर घसीटता हुआ विरूपाक्ष की राजधानी में जा पहुँचा।

जब विरूपाक्ष ने अपने मित्र राजधर्म को घायल देखा और अनाचारी की कृतघ्नता और मित्र-द्रोह का वृत्तान्त सुना तो उसीसमय घातक को बुलवाकर अनाचारीके शरीरके टुकड़े-टुकड़े करवा डाले और राक्षसों को बुलाकर कहा कि तुम लोग इस अनाचारी के मांस को खाओ। राक्षसों ने कहा कि पृथ्वीनाथ! हम लोग ऐसे कृतघ्न मित्रद्रोही पापिष्ठ का माँस न खाएँगे। जब राक्षसों ने उसका माँस न खाया, तब जंगली मनुष्यों के पास जो पशु के तुल्य होते हैं, पहुँचवा दिया।

वे भी अपनी बोली में कहने लगे कि यद्यपि हम सब मांस खाते हैं; परन्तु ऐसे कृतघ्न पापी के मांस को, जिसने अपने उपकारी के साथ अपकार किया, कदापि न खायँगे। जब वनमानुसों ने भी उसके मांस को खाने से नाहीं की तब राक्षसों ने उसके मांस को भेड़ियों के बिलों में रख दिया। भेड़िए भी कृतघ्न के मांस को निन्दित समझ कर उन बिलों को छोड़ दिया जिनमें कृतघ्न का मांस रक्खा गया था। और दूसरे बिल खोदने लगे। तब राक्षसोंने उस मांस को स्यारों के बिलों में यह समझ कर रख दिया कि स्यार सब मांस खाते हैं, इसको भी खालेंगे। परन्तु जब स्यारों के बिलों में कृतघ्न का मांस रक्खा गया तब सब स्यार इकट्ठे होकर विरूपाक्ष के राजमन्दिर के पास दिनमें बड़े शब्द से रोने लगे।

विरूपाक्ष बोला कि आज स्यार इकट्ठे होकर दिनमें क्यों रोते हैं; क्योंकि इनका दिन में रोना अशुभ होता है। राक्षसों ने कहा कि महाराज इसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि इनके बिलों में कृतघ्न का मांस रक्खा गया है। तब से

यह सब इकट्ठे होकर रोते हैं। क्योंकि कृतघ्न को महापातित समझ कर कोई उसके मांसको नहीं खाता। इसीसे स्यारों ने भी उस मांस को अपने घरों में से अशुद्ध समझ छोड़ दिया है और आपसे दुहाई करते हैं कि उनके घर से ऐसे कृतघ्न का मांस निकाल लिया जाय। ये भी उसको नहीं छुआ चाहते। क्योंकि ऐसे ही भेड़िए भी अपने बिलों को छोड़ दूसरे बिलों को खोदने लगे थे।

यह बात सुन विरूपाक्ष ने स्यारों के बिलों से मांस निकलवाकर, जहाँ पर बहुत कौवे इकट्ठे होते थे, वहाँ रखवा दिया। जब कौवे भी उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर बैठने लगे और उस मांस को किसी जन्तु ने न खाया तब विरूपाक्ष ने उसे मलीन पृथ्वी में गड़वा कर आज्ञा दी कि इस स्थानमें लोग मल मूत्र किया करें।

इस कथा को सुनकर राजा दुर्जय ने कहा कि सुनो प्रधान। जबतक मुझे मणि न मिलेगी, इन कहानियों के सुनानेसे मेरा समाधान न होगा। तुमने सम्पूर्ण राजधर्म्म पढ़ा परन्तु यह नहीं समझा कि राजाओं का अर्थ प्रिय होता है और कोई बात नहीं मानते। न्याय की बात राजाओं को उस अवस्था में प्रिय होती है जब न्याय सभा में बैठते हैं। यह समय हमारे दिग्विजय का है। हम जहाँ जो वस्तु अपूर्व और उत्तम पाएँगे, वह चाहे न्याय से मिले अथवा अन्याय से, उसको अवश्य लेंगे। इसलिए तुमको आज्ञा होती है कि तुम बहुत शीघ्र जाकर उस भिक्षुक से कह दो कि मणिको हमारी भेंट करे। फिर वह जितना द्रव्य चाहेगा, उसे दिया जायगा। इस प्रकार राजाको लोभग्रस्त और आग्रहसहित देखकर प्रधान चुपचाप उठकर मुनि के

निकट चला और मनमें यह सोचता था कि हमारे राजा की प्रकृति बहुत विपरीत होगई है। पहिले इस प्रकार की न थी। जैसा नीति में लिखा है, सो सब है।

दोहा।

आए समय विनाश जब, बुद्धि होत विपरीत।
हित शिक्षा भावे नहीं, प्रिय लागे अनरीत॥

हमने कितना ही समझाया परन्तु उसको एक भी अच्छा न लगा। इससे निश्चित होता है कि इस राजा का विनाश-काल आगया है। प्रधान इस प्रकार पछताता हुआ गौर-मुख मुनि के पास गया। साष्टांग दण्डवत् करके बोला कि आप लोगों को तप-बल से भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों काल का ज्ञान होता है। मैं जिस कार्य के लिए आया हूँ, वह भी आपसे छिपा न होगा। क्योंकि ईश्वर के भजन का ऐसा प्रभाव है कि सहस्रवर्षों का भविष्यत् वृत्तांत तपस्वियों को अनुभव से विदित होजाता है। तो इस बात की क्या गिनती है? परन्तु मुझ सेवक का यही धर्म है कि जिसने भेजा है उसका संदेश कहूँ।

मुनि ने कहा जो तुम चाहो सो कहो। प्रधान ने कहा कि हमारे महाराजा की इच्छा है कि जो आपके पास मणि है, वह आप राजा को प्रसाद की भाँति दे दीजिए। मुनि ने कहा कि सुनो प्रधान, तुम बड़े बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य हो। राजा भेंट की भाँति चाहता है और उसे तुम प्रसाद कहते हो। जैसा तुमने राजा को नीतिपूर्वक समझाया है वह भी मुझे विदित है। मणि क्या वस्तु है, यदि किसी का अर्थ निकले तो महात्मा लोग शरीर के देने में भी दुःखित नहीं होते हैं। देखो, दधीचि ने, देवताओं का अर्थ समझ कर,

अपना शरीर दे डाला था। परन्तु कारण यह है कि याचक की बुद्धि में सौजन्यता और शुद्ध भावना हो तो दाता लोग अदेय वस्तु को भी दे डालते हैं। देखो, मैंने अपने प्रभु से चरणसेवा और भजन को छोड़ और कभी कुछ नहीं माँगा। केवल तुम्हारे सबके सत्कार के लिए अपनी दीनता प्रकट की। उस दयासागर ने यह मणि मुझे भेज दिया जिसके द्वारा इस कुटी से कितने जीवों का सत्कार हुआ। अतः यह मणि इसी लिए यहाँ है, कि यदि कोई अभ्यागत आए, वह यहाँ से विमुख फिर न जाय। किन्तु राजा दुर्जय लोभग्रस्त होकर इसे बलपूर्वक लिया चाहता है। तो उसे अधिकार है कि उठा मँगावे। मैं निषेध नहीं करता और यदि यह चाहे कि भेंटकी भाँति मैं मणिको लेकर मिलूँ तो यह मुझ से नहीं होगा। क्योंकि मैं तो अपने को उस महाराजाधिराज चराचरनाथ को भेंटकर चुका; जिसके भौं फेरने मात्रमें कितने अपंगु भिखारी राजाधिराज और कितने सार्वभौम राजा भिखारी बनजाते हैं।

मुनि के वचन को सुनकर प्रधान ने जाकर राजा से कहा कि मुनि प्रसन्नता से मणि न देगा। आप जिस प्रकार चाहें मँगा भेजें। प्रधान की इस वाणी को सुनकर राजा दुर्जय ने अपने पार्श्ववर्ती वीरों को आज्ञा दी कि तुम लोग जाकर मणि उठा लाओ। जिस समय राजा के किंकर उस स्थान में पहुँचे, जहाँ मणि रक्खी थी तो उसी समय यह चरित्र हुआ कि अकस्मात् उस मणिके निकट सोलह वीर प्रकट हुए और उन्होंने राजा के लोगों को हटा दिया। तब राजा ने सारी सेना समेत उस स्थान को घेर लिया, जहाँ मणि विद्यमान थी। उस समय राजा की अपार सेना और उन

सोलह स्वर्गीय वीरों से बड़ा संग्राम हुआ। अन्त में स्वर्ग के दिव्य वीरों ने ऐसी बाण-वर्षा की कि राजा की सारी सेनावाले बाणों से छिद गए। कितने घायल और कितने निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। कितने देश की ओर भाग गए। तब स्वर्ग के वीरोंने राजा दुर्जय के एक बाण ऐसा मारा कि वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। किन्तु वह फिर सँभाल कर उठा। उसका चित्त बहुत घबरा गया और शरीर की सुध-बुध जाती रही। विक्षिप्त की भाँति इधर-उधर देखता हुआ भागा। वह जहाँ जाता था वहाँ उसे ऐसा जान पड़ता था कि मानो वे स्वर्गीय वीर उसके पीछे धनुषबाण लिए हुए आते हैं। इसी डर से वह भागा चला जाता था। उस स्थान में केवल वही प्रधान, कि जिसने राजा को प्रथम शिक्षा की थी, शेष रह गया। वह जाकर मुनि के चरणों पर गिर पड़ा और कहने लगा कि स्वामी जी, जैसा राजा ने अन्याय किया, वैसा फल पाया। सब सेना नष्ट-भ्रष्ट होगई और राजा का भी पता नहीं मिलता, कहाँ गया। मुझे जैसी आज्ञा हो वैसा करूँ।

गौरमुख मुनि ने कहा कि हे प्रधान! इस समय तू राजा की राजधानी में जाकर सम्पूर्ण कार्य-भार को सँभाल। इस वन में जब तू फिर आवेगा तब तेरा राजा मिलजायगा। अभी उसको अपने कर्म का फल भोगना पड़ेगा। मुनि की आज्ञा मान कर प्रधान तो राजधानी को चला गया और वहाँ उसने राजा दुर्जय के पुत्रको राजगद्दी पर बैठाकर राज-काज को सँभाला। और वन में राजा की यह दशा हुई कि पशु-पक्षी की भाषा भी उसके समझ में आने लगी। क्योंकि निन्दित

काम करने के पश्चात् मनुष्य को सब के भावों में अपनी निन्दा ही के भाव प्रतीत होने लगते हैं। जिस मार्ग में होकर राजा निकलता था; वहाँ के पशु और पक्षी भी आपस में यही कहते थे कि यह राजा महाकृतघ्न है। इसका मुख देखने से पाप लगता है। यह बात सुनकर राजा को अधिक ग्लानि होती थी। इसी कारण रोता हुआ वन में विक्षिप्त की भाँति घूमता था। कई दिन बीत गए। विना अन्न-जल वन में घूमता-फिरता रहा। कहीं बैठने का भी ठिकाना न मिला। जहाँ बैठने की इच्छा करता था, वहाँ यह शब्द सुनाई पड़ता था कि हे कृतघ्न! यहाँ से दूर हो। तूने अपने उपकारी के साथ अपकार किया। तेरा उद्धार नहीं है।

जब राजा ने कई दिन तक इस घोर यातना को भोग किया तो एक दिन घूमते-घूमते फिर उसी गौरमुख मुनि के आश्रम में प्राप्त हुआ। वहाँ भी यही धिक्कार का शब्द सुनाई पड़ता था। परन्तु उस स्थान के जाने से राजा को कुछ ज्ञान हुआ। तब उसने गौरमुख मुनि को साष्टांग दण्डवत् किया और कहा कि मैं राज-पाट कुछ नहीं चाहता। अब आप कृपा करके वह उपाय कीजिए जिससे मैं कृतघ्नता के पाप से छूट जाऊँ।

राजा की बिनती सुन कर गौरमुख के मन में दया आगई। सब तपस्वियों को बुलाकर पूछा कि कृतघ्न का उद्धार किस प्रकार हो और सर्वत्र धिक्कार शब्द, जो राजा को सुनाई देता है, वह न सुनाई दे। इसका उपाय सब कोई सोचकर बताओ। गौरमुख के वचन को सुनकर सब ऋषियों ने उत्तर दिया कि कृतघ्न का उद्धार शास्त्र में नहीं है। परन्तु सबके विचार में यह बात आती है कि इस राजा को किसी कृतज्ञ

जीव की कथा, कि जिसने अपने उपकारी का उपकार माना हो, सुनाई जाय ; तो आश्चर्य नहीं कि यह निष्पाप हो जाय। क्योंकि जैसा कृतघ्नताका घोर पाप है, वैसा ही कृतज्ञता का पुण्य भी अपार है। इस बात पर सब ऋषियों का एक सम्मत हुआ। तब एक वृद्ध तपस्वी ने कृतज्ञता की कथा इस भाँति आरम्भ की।

राजा काशिराज के नगर से एक व्याध अपने हथियार लेकर वन में गया। वहाँ उसने एक बड़े भारी वृक्ष के नीचे एक मृग को बाण से मारा। वह बाण मृग का शरीर काटता हुआ वृक्ष में गड़ गया और मृग मृतक होकर वहीं गिर पड़ा। वह व्याध मृग के मांस को लेकर अपने घर चला आया। परन्तु बाण विष से बुझा हुआ था इस कारण उसका विष वृक्ष में भिद गया। इस से उसके पत्ते और छोटी छोटी डालियाँ सूख-सूख कर झड़ने लगीं और वह वृक्ष धीरे-धीरे पत्तों और डालियों से रहित होकर श्रीहत होगया। तब जितने पक्षी उस वृक्षपर रहतेथे उसका कुसमय देख सब वृक्ष को छोड़-छोड़ कर चले गए। परंतु उस वृक्ष के खोढ़र में एक सुआ रहता था। वह उसके सूख जाने से बड़ा क्लेशित हुआ और उसने अपने जी में यह ठाना कि इसी वृक्ष के साथ चाहे मेरा प्राण भले ही जाता रहे, परंतु इसका साथ कभी न छोड़ूँगा। क्योंकि इसने मेरा बड़ा उपकार किया है और इसके डील से मुझे बड़ा सुख मिला है। सुआ के इस दृढ़ प्रेम और कृतज्ञता को देखकर एक स्वर्गदूत मनुष्य का रूप धारण करके आया और कहने लगा, कि हे तोते ! इस वृक्ष पर रहने से तुझको क्या लाभ है ? इसका फल, फूल, पत्ता और बकला

सूख गया है। इसको छोड़कर किसी फूले-फले वृक्ष पर निवास करो। इस मरे हुए वृक्ष पर क्यों पड़ा है? जितने तेरे संगी साथी पक्षी इस वृक्ष पर रहते थे, वे सब दूसरे वृक्षों पर चले गए। और तू इसी शुष्क वृक्ष के आश्रय में पड़ा हुआ वर्षा, धूप और जाड़े का दुःख सहता है।

स्वर्गदूत के वचन को सुनकर तोते ने कहा कि भाई! सज्जन को चाहिए कि जो अपना थोड़ा-सा उपकार भी करे तो उसको बहुत जाने और कभी न भूले। और जहाँ तक सामर्थ्य चले उसके साथ भलाई करे। नहीं तो अपने उपकारी के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होना आवश्यक है। मैंने बाल्यावस्था से इस वृक्ष के आश्रय में रहकर बड़ा सुख पाया है। अब यदि दैवयोग से हमारे उपकारी पर विपत्ति आपड़ी है तो मुझे चाहिए कि कुछ सहायता करूँ। सो इसके योग्य मुझे ईश्वर ने सामर्थ्य ही नहीं दी। लेकिन उसके साथ थोड़ा दुःख सहने में वि-मुख होकर क्यों अपना परलोक बिगाड़ूँ।

सुआ के वचन को सुनकर स्वर्गदूत बोला कि हे मधुर-भाषी तोते! उपकार क्या वस्तु है; उपकारी किस को कहते हैं और कृतज्ञ कौन होता है? यह बात मैं तुझ से सुना चाहता हूँ। इस प्रकार स्वर्गदूत के वचन को सुनकर मधुरभाषी सुआ बोला कि सुनो दिव्यरूप! उप-कार वह वस्तु है जो उपकारी की ओर से एक या अनेक जीवों के हित के लिए प्रकट होती है और वह उपकारियों का स्वाभाविक गुण है। वह अपने लाभ के कार्य्य-साधन के निमित्त वैसा नहीं करते। जैसे कि नीति में लिखा है—

श्लोक।

पिबन्तिनद्यः स्वयमेवनोदकं; स्वयन्नखादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतवे; परोपकाराय सतां विभूतयः॥

अर्थात् नदियाँ अपने जलको आप नहीं पीलेतीं, वृक्ष अपने फल को आप नहीं खालेते और बादल अपने हेतु जल नहीं बरसाते—इसीप्रकार सज्जनों की विभूति परोपकार ही के निमित्त होती है।

उपकारियों को उपकार करने से जो क्लेश और श्रम होता है उससे उनके मन में म्लानता नहीं होती और न वह उपकार को त्याग ही कर देते हैं। बरन् उससे वे अधिक लाभदायक हो जाते हैं। जैसे पृथ्वी खोदने से जल और जोतने-बोने से अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करती है और आम्र आदि वृक्ष ईंट या पत्थर के मारने पर मीठे-मीठे फल देतेहैं और कपास कितनी ओटी और धुनी तथा काती जाती है; परंतु अन्त में वस्त्र बनकर सबकी लज्जा और मर्यादा रखती है। ऐसे ही ईख है जिसको टूक-टूक काटकर मनुष्य पेरते हैं तो उसमें से रस गिरता है और जब वह उबाला जाता है तो उससे गुड़ तथा शक्कर उत्पन्न होती है। यहाँ तक कि ऐसेही दुःख सहते-सहते चीनी, मिश्री, ओला, कन्द आदि बन कर दिन प्रति दिन ईख अधिक उपकारक हो जाती है। इसी प्रकार सोना है। वह पराये के लिए ताड़न और दहन सहता है। परंतु मैला नहीं होता। बरन् अपनी दीप्ति को और बढ़ाता जाता है। ऐसेही जो उपकारी जीव होते हैं वे दुःख को सुख समझकर परोपकार करते हैं। वास्तव में उपकार से बढ़कर पृथ्वीतल में कोई पुण्य नहीं है जैसा सत्य ही कहा है--

दोहा ।

अष्टादशहु पुराण में, कियो व्यास निरधार ।
महा पाप अपकार है, महा पुण्य उपकार ॥

अर्थात् व्यासजी ने अठारह पुराणों को बनाकर निश्चय किया है कि परोपकार से बढ़कर कोई पुण्य और पर अपकार से बढ़कर कोई पाप नहीं है। उपकारी के उपकार को मानने को कृतज्ञता कहते हैं और जो मानता है उसको कृतज्ञ कहते हैं। जैसे कृतज्ञ कमल है। वह सूर्य के उपकार को नहीं भूलता। जब सूर्य्य अस्त होजाते हैं तब आप भी संपुःटित होजाता है। इसी भाँति कोकिल पक्षी भी कृतज्ञ है। वह वसंत ऋतु का उपकार मानता है। जब वर्षा ऋतु में वसंत की शोभा को नष्ट देखता है तब कृतज्ञता की दृष्टि से चुप होरहता है। ऐसे ही वृक्ष, जो जल के उपकार से बढ़ते हैं, वे जल का इतना उपकार मानते हैं कि आप कटने और सूख जाने पर भी जल के ऊपर सदा पैरते रहते हैं और अपने उपकारी से मुँह नहीं छिपाते। जब जड़ जीवों और वृक्षों में इस प्रकार की कृतज्ञता प्रकट है तब मनुष्यों को अवश्य ही उपकार मानना चाहिए। जैसे माता-पिता का उपकार पुत्र को, गुरु का उपकार चेले को और स्वामी की कृतज्ञता सेवक को मानना चाहिए। क्योंकि जिन में कृतज्ञता नहीं होती वे कृतघ्न अर्थात् किए हुए उपकार के हंता गिने जाते हैं। जिनके विषय में यह क्याही अच्छा कहा है—

श्लोक ।

हिंसके निंदके चैव चोरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता शास्त्रे कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥

हिंसक अर्थात् दुःखदायी, निंदक, चोर और व्रतभंगियोंके पाप छुड़ाने का उपाय शास्त्र में लिखा है, परन्तु कृतघ्न का उद्धार नहीं लिखा। इसलिए मैं इस वृक्ष का उपकार मानकर यहाँ पड़ा रहता हूँ। जो यहीं मेरा शरीर छूटगया तो अपने उपकारी से उऋण हो जाऊँगा और यदि दैवगति से कदाचित् इसवृक्ष की उत्तम दशा आगई तो अपने नेत्रों से अपने उपकारी की भलाई और वृद्धि देखकर कृतार्थ भी होजाऊँगा। इसलिए इस स्थान को नहीं छोड़ता।

इस प्रकार सुआ की कृतज्ञवाणी सुनकर स्वर्गदूत बहुत प्रसन्न हुआ। उसने तुरन्त थोड़ासा अमृत उस वृक्ष पर छिड़क दिया और ईश्वर के नाम को स्मरण करके कहा कि हे वृक्ष! जैसा तू पहिले था वैसा ही हरा-भरा फिर होजा। इसके अनन्तर थोड़े ही क्षण में वह वृक्ष भगवत्कृपा से हरा-भरा होगया और उस कृतज्ञ पुण्यात्मा सुआ को स्वर्गदूत ने अपने साथ लेजाकर उत्तम धाम को पहुँचाया।

इस कथा के सुनते ही राजा दुर्जय का चित्त निर्मल होगया और जो धिक्कार का शब्द उसे सुनाई देता था वह भी पश्चात्ताप करने से बन्द होगया। उसके पीछे राजा दुर्जय गौरमुखमुनि से उपदेश ग्रहण करके चित्रकूट स्थान में स्थित होकर अन्त तक भगवद्भजन में तत्पर रहा और बाद को शरीर त्यागने पर उत्तम गति को प्राप्त हुआ। शास्त्रकारों का कथन है कि—

दोहा।

जो तृण सम उपकार को, मानत सदृश पहार।
ऐसे उत्तम जीव की, होय न कबहुँ हार॥

षोडश तरङ्ग।

ईश्वर की प्रभुता और दयालुता।

श्लोक।

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं; सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोपि वने विसर्जितः; कृतप्रयत्नोपि गृहे न जीवति॥

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है उसे यदि वनमें छोड़ दो तो वहाँ भी वह बच जाता है और जिसे दैव मारा चाहता है, उसे घरमें कितनी ही रक्षा से रक्खो, अवश्य नाश होजाता है।

विदर्भ देश का राजा सत्यरथ परमधर्मिष्ठ, सुशील, सत्य-वक्ता तथा प्रजापालक था। उसके राज्य में प्रजाको किसी प्रकारका दुःख न था और राजा दिन-रात धर्मनीति में रहता था। इसी प्रकार उसको राज्य करते हुए बहुत दिन बीत गए। उससे और शाल्ववंशी एक राजा से वैर था। किसी समय शाल्ववंशी राजा ने अवसर पाकर अपनी सेना समेत राजा सत्यरथ पर चढ़ाई की और विदर्भनगरी को घेर लिया। तब राजा ने अपनी नगरी को घिरी हुई देखकर तुरन्त सेना लेकर लड़ने के लिए सन्नद्ध होकर रणभूमि में गया और उसने शाल्व के साथ घोर संग्राम किया। निदान उसी लड़ाई में राजा सत्यरथ जूझगया। तब राजाकी सेनावाले अनाथ होकर भागने लगे और कुछ लड़मरे। महाराज सत्यरथ की महारानी जो परम

पतिव्रता और गर्भवती थी, विपत्तिकाल को देख युक्ति से बाहर निकलकर धीरे-धीरे वनमें चली गई। जब प्रातःकाल हुआ, एक विमल सरोवर के तट पर, वृक्ष की छाया में, श्रमित होकर बैठ गई।

उसी स्थान में, दैवयोग से, शुभ मुहूर्त्त पाकर रानी के पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु प्रसवपीड़ा से वह मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। जब कुछ चेत हुआ तब पानी पीने के लिए उसी सरोवर पर गई और पानी पीने लगी। उसी समय एक ग्राह आकर उसे पकड़कर निगल गया। और, माता-पिता से हीन, वह अनाथ बालक रोता हुआ वहीं पड़ा रहा।

उसी समय वहाँ एक विधवा ब्राह्मणी, जिसके पास भी एक वर्ष का एक बालक था, घर-घर भिक्षा माँगती हुई उसी स्थान पर आ पहुँची और राजपुत्र को इस प्रकार तेज से प्रकाशित रोता हुआ देखा कि मानो सूर्य का बिंब गिरा हुआ पड़ा है।

वह बड़े आश्चर्य में हुई कि इस बालक का नाल भी नहीं कटा; इसके माता-पिता कहाँ चले गये? जान पड़ता है कि इसके माता-पिता या बंधुओं में से यहाँ कोई नहीं है। क्योंकि यदि कोई होता तो यह बालक क्योंकर अनाथ की भाँति पृथ्वी पर पड़ा रहता। इस बात का निश्चय भी किस प्रकार हो कि यह बालक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अंत्यज, चांडालादि में से किसका है? मैं अवश्य इस लड़के का पालन करती; परन्तु विना जाति-कुल जाने हुए छू नहीं सकती। इस प्रकार ब्राह्मणी सोच ही रही थी कि एक भिक्षुक अकस्मात् उस स्थल पर आया और ब्राह्मणी

से बोला कि हे ब्राह्मणी! तू इस बालक को अपने बालक के समान पाल। इससे तेरा बड़ा कल्याण होगा। इसमें और कुछ विचार मत कर। इतना कह कर वह दयालु भिक्षुक चला गया।

वह ब्राह्मणी उस अनाथ बालक को उठाकर अपने घर ले गई और अपने पुत्र के समान उसको पालने लगी। भिक्षा माँग कर जो कुछ लाती थी वह अपने पुत्र और राजपुत्र को खिलाती थी। जब वह दोनों लड़के कुछ बड़े हुए तो ब्राह्मणी ने दोनों को यज्ञोपवीत धारण कराया। और जहाँ भिक्षा माँगने जाती उन्हें साथ लिए रहती थी।

एक दिन किसी मंदिर में गई। वहाँ बड़े-बड़े विद्वान् तपस्वी बैठे थे। भिखारिन के साथ राजपुत्र को देखकर शांडिल्य मुनि बोले कि दैव का अद्भुत चरित्र है; और कर्म की भी विचित्र गति है। देखो, यह बालक भिक्षुकी के साथ भिक्षा-वृत्ति से जीता है और इसे ब्राह्मणी माता मिल गई है। यह अपने को भिक्षुक जानता है। यह वचन सुन कर वह ब्राह्मणी साष्टांग दंडवत् करके शांडिल्य मुनि से बोली कि महाराज! मैंने इस लड़के को वन में पड़ा हुआ पाया है और यह नहीं जानती कि इसके माता-पिता कौन और किस जाति के हैं; जीते हैं अथवा मृत होगए। क्या आप इन बातों का उत्तर देंगे? मैं जानती हूँ कि आप भूत, भविष्य और वर्त्तमान तीनों काल की बातों के जानने वाले हैं।

यह बात सुन कर शांडिल्य मुनि ध्यान में देखकर बोले कि यह बालक विदर्भ देश के राजा सत्यरथ का पुत्र है जो

लड़ाई में जूझ गया और इसकी माता को ग्राह निगल गया है।

यह अद्भुत वृत्तांत सुन ब्राह्मणी मुनि के चरणों पर गिर-पड़ी और कहने लगी कि आप कृपा करके कुछ ऐसा उपाय बतलाइए कि इन लड़कों का दरिद्र छूटे और सौ-भाग्य प्राप्त हो। इस बड़े लड़के का नाम मैंने शुचिव्रत, और राजपुत्र का नाम धर्म्मगुप्त रक्खा है। ये दोनों आपके सेवक हैं। आप इनको दारिद्रसागर से उबारिए। इस प्र-कार ब्राह्मणी की बिनती सुन कर शांडिल्य मुनिने दोनों ल-ड़कों को ईश्वर का मंत्र पढ़ा दिया और उसकी विधि बतलाकर कहा कि इसके जपने से थोड़े ही दिन में ईश्वर इन पर कृपा करेगा।

निदान उसी दिन से वे उस मन्त्र को जपने और ईश्वर का पूजन करनेलगे। चार मास बाद एक दिन द्विजपुत्र शुचिव्रत राजपुत्र धर्म्मगुप्त को साथ लिए विना नदी के तटपर स्नान करने को गया। वहाँ सुवर्णमुद्रा से भरा हुआ एक कलश मिला। उसे वह उठालाया और अपनी माता के आगे रखदिया और बोला कि परमेश्वर ने कृपा करके यह धन दिया है; जैसी तेरी आज्ञा हो वैसा करूँ। ब्रा-ह्मणी बोली कि दोनों भाई आधा-आधा करके बाँटलो। शुचिव्रत ने कहा, बहुत अच्छा। तब धर्म्मगुप्त राजपुत्र ने कहा कि हे माता! मैं यह धन नहीं लिया चाहता। क्योंकि इसने अपने सुकृत से पाया है। इसको उचित है कि अपने काम में लावे। जिस परमेश्वर ने इसको धन दिया है वह मेरे ऊपर भी कृपा करेगा।

इसीप्रकार ईश्वरकी पूजा करते-करते वर्ष दिन व्यतीत

हुआ। किसी समय वसन्त ऋतु में राजपुत्र और द्विजपुत्र दोनों वनमें घूमते-घूमते बहुत दूर निकल गए। तो वहाँ देखा कि थोड़ीदूर पर सैकड़ों गन्धर्व की परमसुन्दरी कन्यायें आनन्द से खेल रही हैं। द्विजपुत्र ने राजपुत्रसे कहा कि अब इससे आगे न चलना चाहिए। क्योंकि वहाँ स्त्रियाँ खेलती हैं। इसलिए उस स्थान में जाना उचित नहीं है। जैसा नीति में लिखा है—

चौपाई।

बुधजन नारि निकट नहिं जाहीं। निर्मल ज्ञान जासु मन माहीं॥
हाव भाव यौवन-मद भारी। ज्ञान मान मोहत लखि नारी॥
चह कोउ बचै बाण हृदि लागे। बरु उबरै साँपहु से भागे॥
नारि देखि शर लागत जबहीं। होत शूर कादरतर तबहीं॥
बरत आगि नर घृत घट नारी। ताते निकट न जाइ अचारी॥

इस प्रकार समझाकर द्विजपुत्र उस स्थान से आगे न बढ़ा, बरन् पीछे को लौट आया। परन्तु राजपुत्र उस स्थानपर,जहाँ कि गंधर्वकन्यायें थीं, अकेला ही चला गया। उनमें एक सबसे श्रेष्ठ और प्रधान गंधर्वकन्या थी। वह राजपुत्रकी सुन्दरता और राजश्री देख कर अचंभित हुई और चाहा कि उससे कुछ बात चीत करें। परन्तु सखियों के साथ होने से न बोल सकी। इसलिए सखियों से कहा कि तुम सब इससे आगे के वन में जाकर उत्तम-उत्तम पुष्प चुनलाओ, मैं तबतक यहाँ बैठी हूँ। जब सखियाँ फूल तोड़ने के लिए आगे बढ़गई। तब गंधर्वकन्या ने राजपुत्र को बुलाकर पत्तों के आसन पर बैठाकर कहा कि आपके देखने से मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। बतलाइए आप किसके पुत्र हैं और यहाँ क्योंकर आये?

राजपुत्र ने कहा कि मैं विदर्भदेशके राजाका पुत्र हूँ। परन्तु मैं माता, पिता और राज्य से हीन अनाथ घूमता हूँ। तुम किसकी कन्या हो और तुम्हारी क्या कहने की इच्छा है? गंधर्वकन्या बोली कि मैं विद्रक नाम गंधर्वराज की पुत्री हूँ और मेरा नाम अंशुमती है। तुमसे बातचीत करने ही के लिए मैंने सखियों को यहाँ से टाल दिया है। मेरी संगीत और गानविद्या में विशेष प्रवृत्ति है। इसलिए अनेक सखियाँ मेरे साथ रहा करती हैं। जैसा तुम्हारे साथ मुझे स्नेह होगया है वैसाही जान पड़ता है कि तुम्हारा भी अनुराग मेरे साथ है। और हमारी आपकी मैत्री ईश्वरकी संघटना से हुई। आशा है कि अब ऐसीही सदा बनी रहैगी। क्योंकि—

दोहा।

मैत्री होत कुलीन से, सो नहिं टूटन योग।
न्याय प्राप्त धन जिमि बढ़े, घटे न वाको भोग॥

इतना कहकर गन्धर्वराजपुत्री ने अपना मोती का हार उतार कर राजपुत्र को पहिना दिया। तब राजपुत्र बोला कि मुझे इस बात का बड़ा संदेह है कि तुम गन्धर्वराजपुत्री और मैं राज्य से हीन और दीन एक मनुष्य हूँ। हमारी तुम्हारी मैत्री किस प्रकार होसक्ती है? और यदि तुम कदाचित् हमारी दीनता पर भी दृष्टि न करो तो भी माता-पिता की सम्मति विना मोहित होकर किसीके साथ स्नेह न करना चाहिए। यह बात शास्त्रसम्मत है। इस बातको सुनकर गंधर्वकन्या मुसकरा कर बोली कि आप ठीक कहते हैं। मैं वैसाही करूँगी। जैसी आपकी इच्छा है।

परंतु आप कल प्रातःकाल फिर इसी स्थान पर आइएगा, तो अवश्य कार्य्य होगा। इसमें कुछ संदेह नहीं।

यह बात कहकर वह अपनी सखियों में जा मिली और राजपुत्र भी द्विजपुत्र के निकट चला गया और सम्पूर्ण वृत्तान्त उससे कह सुनाया। फिर दोनों मिलकर अपने स्थानपर चलेगए।

दूसरे दिन फिर वनमें उसी स्थान पर जहाँ गंधर्वपुत्री से भेंटहुई थी, द्विजपुत्र समेत राजपुत्र वहाँ गया। वहाँ उसने देखा कि गन्धर्वराज अपनी कन्या को साथ लिए बैठा है। जब दोनों कुमार उसके पास पहुँचे, तब गन्धर्वपति ने दोनों को सत्कारपूर्वक बैठाया और कहा कि हे राजपुत्र! यह उसीका फल है जो तुमने ईश्वर की आराधना किया है कि जिससे मैं यह कन्या तुम्हें देता हूँ और तुम्हारे राज्यपर भी तुम्हें मैं बहुत शीघ्र बैठा दूँगा। यह बात कहकर गंधर्वराज ने उसी वन में अपनी कन्या से धर्मगुप्त राजपुत्र का ब्याह करादिया और अनेक प्रकार के स्वर्ण, रत्न, मणि, घोड़े, हाथी, रथ और दासी दहेज की भाँति अर्पित किए और अपनी चतुरंगिणी गन्धर्वसेना सजाकर राजपुत्र के साथ कर आप विमान पर बैठ गंधर्वलोक को चलागया। राजपुत्र धर्मगुप्त गंधर्वसेना की सहायता से युद्ध में सम्पूर्ण शत्रुओं का संहार करके अपने पुरुषों की राजगद्दी पर विराजमान हुआ और अपने साथी द्विजपुत्र को सब राज्य का राज-मन्त्री नियत किया। अपनी प्रजा को जो शत्रु के वश में पड़ी थी छुड़ाया और धर्मनीति से प्रजा को पालने लगा। क्याही अच्छा कहा है—

दोहा।

रन, वन, व्याधि, विपत्ति में, डरै न रहिमन रोय।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गयो कि सोय॥
रहिमन बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़त साथ।
खग-मृग बसत अरोग्य वन, हरि अनाथ के नाथ॥
जो जाके वश में परै, तासों कहा बसाय।
ताको सुख दुख देत सो, ईश्वर एक सहाय॥
बात बहत, रवि तपत घन, बरसत तरु फल देत।
इच्छा ते जेहि ईश की, करहु ताहि ते हेत॥
अनहोनी प्रभु करि सकै, होनहार मिटि जाय।
अति विचित्र भगवन्त गति, सो कासों कहि जाय॥

उपाख्यान।

दशार्णदेशाधीश एक राजा के कई रानियाँ थीं। लेकिन अधिक समयतक उनमें से किसीके भी पुत्र न हुआ। बहुत दिन के बाद जब छोटी रानी सुमति के गर्भ का लक्षण दिखाई दिया। तब उसकी सौत जेठी रानी ने छल से उसको विष खिलादिया कि जिससे गर्भ समेत रानी मर जाय। परन्तु विष खाने पर भी वह दैवयोग से न मरी। मृत्यु के समान दुख होने पर भी रानी और गर्भ का बालक ईश्वर की कृपा से बचगया। समय पाकर लड़का उत्पन्न हुआ। किन्तु विष खाने के कारण रानी और बालक दोनों के शरीर में फोड़े निकलते और पकते—फूटते थे, जिससे रानी को बहुत पीड़ा होती और रात-दिन नींद न आती थी। राजा ने बड़े-बड़े वैद्यों से भाँति-भाँति की औषधि करायी, परंतु कोई गुणकारी न हुई और कई मासतक रानी और बालक वैसेही पीड़ा से दुःखी बनेरहे,

जिसके कारण राजा भी बहुत खेदित और बेचैन रहा करता। फोड़ों की पीप की ऐसी दुर्गन्ध उठती कि लोगों की नाक फटी जाती थी।

एक दिन राजा ने सोचा कि ये दोनों न मरने में और न जीने में; इनके कारण मुझे नरक से भी अधिक पीड़ा होती है। रातदिन इनकी चीत्कार से नींद नहीं आनेपाती। ये दोनों ऐसे पापी हैं कि आप दुःखी हैं और दूसरों को भी दुःखी करते हैं। अब इसका क्या उपाय है। इस प्रकार सोच-विचार कर राजा ने सूत–अर्थात् रथ हाँकनेवाले–को बुलाकर कहा कि इन दोनों को रथपर चढ़ाकर कहीं दूर वनान्तर में छोड़ आओ जिससे रात-दिन की विपत्ति मिटे।

निदान राजा की आज्ञा से सूत बालकसमेत रानी को वनान्तर में छोड़ आया। वहाँ रानी ने बड़ी विपत्ति उठाई। एकतो शरीर से आप क्लेशित, दूसरे लड़के का क्लेश। तीसरे घरसे निरपराध निकाली गई। चौथे ऐसे गहन वन में थी कि जहाँ कोई मनुष्य न था। पाँचवें भूख-प्यास सताती थी। छठे चलने न पाती थी। चलकर पग-पग पर गिरपड़ती और अपने कर्म को रोती। कहीं पंथ न पाती और वन जंतुओं को देखकर घबराती और काँटों तथा पत्थरों से छिदी जाती थी।

दैवयोग से भटकते-भटकते एक मार्ग मिला कि जिस पर बटोही आते-जाते थे। थोड़ी दूर पर बनियों का एक बड़ा रमणीक नगर दीख पड़ा। उस नगर का स्वामी पद्माकर नाम वणिक् बड़ा धनवान् था। उसके घरकी एक स्त्री ने रानी को देख उसका वृत्तांत पूछा और फिर जाकर वैश्यपति से कहा। तब उसने बुलाकर सब व्यवस्था

पूछी और वृत्तांत सुनकर क्लेशित हुआ। फिर उसने रानी को अपने घर में टिकाकर माता के समान सेवा करने लगा। औषधियों के द्वारा उसने सब तरह से सहायता की, परंतु उस लड़के का रोग न शान्त हुआ। कई दिन के पीछे वह लड़का व्याधि की प्रबलता से पीड़ित होकर निष्प्राण होगया। रानी पुत्र को मृतक देख विह्वल हो पृथ्वी पर गिर पड़ी और संज्ञा-हीन होगई। जब कुछ चेत हुआ तो विलाप करके रोने लगी। बनिए की स्त्रियाँ समझाती रहीं, किन्तु वह रानी हा पुत्र! हा तात! कहकर रोती और शिर पीटती हुई यह कहती कि हे राजपुत्र! मुझ अनाथ को छोड़कर तुम कहाँ चले गये। इसी प्रकार रानी शोक-सागर में डूबती और उतराती थी कि साक्षात् योगीश्वर ऋषभदेवजी उस स्थान पर प्राप्त हुए। वैश्यराज ने उनका आगत-स्वागत और पूजा की। महात्मा ऋषभदेवजी लड़के को मृतक और रानी को रोती हुई देखकर दयापूर्वक उपदेश देते हुए बोले कि हे रानी—

चौपाई।

क्यों तू व्यर्थ रोवती रानी, सब अनित्य तनु की गति जानी।
कहु जग में को जनमि न मरई, को ताके हित संशय करई॥
जल-बुदबुद जस होइ बिलाहीं, सोइ शरीर गति लख मनमाहीं।
जग में जनमत मरत अनेका, देखत हूँ नर गह न विवेका॥
जीव फिरत माया के प्रेरे, कर्म सुभाव काल गुण घेरे।
जेहि दिन गर्भ परयो यह प्रानी, मौतहु तादिन ते लपटानी॥
तामें प्रबल दैवगति रानी, मोहत जाहि निरखि मुनिज्ञानी।
गर्भ माहिं कोउ बालकपन में, कोउ जवान कोउ वृद्धापन में॥
होत कालवश निश्चय येही, बचे न जगत जनमि कोउ देही।

छिति जल पावक गगन समीरा, पंच रचित यह अधम शरीरा ॥
सो शरीर तव आगे सोवा, जीव नित्य काहे लगि रोवा ।
हाड़ माँस मज्जा शुक चामा, मल अरु मूत्र आदि कर धामा ॥
निकसे जस शरीर मल जानहु, तासम कन्या-सुत पहिंचानहु ।
जो उपाय कीन्हे कोउ बचते, ज्ञानवान कहु काह न रचते ॥

सोरठा ।

तप विद्या मणि मंत्र, विविध रसायन औषधी ।
चलहि न एकौ तंत्र, मृत्यु प्रकट जब होत है ॥
मरत एक कोउ आज, कोउ परसों नरसों कोऊ ।
यहि विधि जगत समाज, रहत नित्य चिरकाल तक ॥
यह अनित्य जग जाल, बाँच कहाँ सुख देह को ।
प्रकट जहाँ नित काल, का सोचहु नृप रानि तुम ॥
जो चाहसि कल्यान, शोक-तरण भव-भय-हरण ।
कर जगदीश्वर ध्यान, शरण जाइ तजि वासना ॥
तब लगि माया मोह, लोभ काम अभिमानता ।
और सतावे कोह, जब लगि भजत न ईशको ॥
जग अनित्यतर जानि, शोक मोह को दूर कर ।
भज ईश्वर को रानि, जो दायक शुभ मुक्ति को ॥

इस प्रकार ऋषभदेव योगी का ज्ञानोपदेश सुनकर रानी हाथ जोड़ कर बोली कि हे गुरुजी महाराज ! इस पुत्रके रोग और अपने शारीरिक रोग के कारण मैं घर से निकाली गई हूँ और अत्यन्त क्लेशित हूं। पुत्र भी हाथ से जाता रहा, तब महात्मन् ! इस समय मरने को छोड़, मेरे लिए और कोई उत्तम गति नहीं है । मैं चाहती हूं कि इसी लड़के के साथ मेरा भी प्राण-प्रयाण होजाय। परंतु मेरा धन्य भाग्य है कि मरने के समय मेरे सम्मुख आप सरीखे महात्मा के चर-

णारविंद विद्यमान हैं। जब ऋषभदेव ने रानी को मरने पर निश्चय सन्नद्ध देखा तब उनके मनमें बड़ी दया आई, जो महात्माओं में स्वाभाविक हुआ करती है। उन्होंने थोड़ी सी विभूति लेकर परमेश्वर का ध्यान किया और परमेश्वर के नामोच्चारण मंत्र से मृतक लड़के के मुख में उसे छोड़ दिया और कहा कि हे बालक! तू ईश्वर के नामबल से सजीव होकर उठ। लड़के ने सबके देखते ही देखते आँखें खोल दीं और दूध पीनेके लिए रोने लगा। इस अद्भुत चमत्कार को देखकर लोग बहुत आनंदित हुए और रानी हर्ष की अधिकता से विह्वल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। महात्मा ऋ-षभदेव योगी ने उस रानी पर विभूति छोड़कर कहा कि आज से इन दोनों का रोग ईश्वर शान्त करदेगा। फिर रानी को उठाकर उक्त योगीश्वर ने समझाया कि अब तुझे किसी प्रकार का दुःख-शोक न होगा और तेरे पुत्र का नाम आज से भद्रायु हुआ और यह बड़ा प्रतापी राजा होगा तथा अपने राज्य को प्राप्त करेगा। जबतक तेरा राजपुत्र सम्पूर्ण विद्या न पढ़चुके तबतक इसी वैश्यनगर में वास करना। इतना कहकर ऋषभदेव अपनी इच्छानुसार दूसरी ओर को चले गए।

जिस दिन से ऋषभदेव जी आशीर्वाद देकर गए उस दिन से रानी और राजपुत्र भद्रायु आनंद से आरोग्य होकर रहने लगे। उस वैश्यपति के एक सुनय नामक पुत्र था। उससे और राजपुत्र से परममैत्री होगई। दोनों भाई के समान एक साथ खेलते थे। जब दोनों कुछ सज्ञान हुए तब वैश्यपति ने दोनों को सद्गुरु विद्वान् के निकट बैठाकर सम्पूर्ण विद्या पढ़ाई। जब राजकुमार सोलह

वर्षका हुआ तब वही ऋषभदेव योगी फिर आए। रानी ने यथोचित पूजा करके बैठाया और लड़के से चरण पर माथा रखवाकर प्रणाम करवाया। ऋषभदेवजी ने कहा कि रानी! तू पुत्र समेत कुशल से है या नहीं और तेरा पुत्र विद्या प्राप्त करता हुआ निरन्तर गुरुकी सेवा में निरत रहता है या नहीं? यह सुनकर रानी ने हाथ जोड़कर कहा कि महात्मन्! इसके प्राणदाता, माता, पिता तथा गुरु आप ही हैं और यह आपका शिष्य आपही की शरणमें है। इसको सुमार्ग सिखाइए। रानी की यह प्रार्थना सुनकर ऋषभदेवजी ने राजपुत्र को इस प्रकार उपदेश दिया।—

दोहा।

श्रुति पुराण अरु सुमृति में, कहो सनातन धर्म।
वर्णाश्रम अनुरूप जो, सेवित सज्जन कर्म॥
सोइ सुमार्गपर चलहु सुत, गहहु सुभग आचार।
जो हित भाखें बृद्ध गुरु, ताहि करो स्वीकार॥
आदर दै विद्वान को, गुण को करि सन्मान।
प्रियवाणी ह्वै न्यायरत, करो सुपात्रहि दान॥

चौपाई।

निज घर नीचहु आवे प्रानी, दीजे तेहिं अहार अरु पानी।
सत्य वचन नहिं तजिए कबहूं, संकट परे प्राणको जबहूं॥
जो असत्य पर प्राण बचावे, सो सत्यहुं ते श्रेष्ठ कहावे।
है जितनो परधन परदारा, तजि लालच सुत रहहु किनारा॥
सदाचार सद्व्रत सत्कथा, करि अनुराग गहहु मति यथा।
उत्तम कर्म बीच तजि आलस, करु विद्या-विनोद निज मानस॥
चुगली रोष क्रोध नहिं कीजे, असत वस्तु कबहूं नहिं लीजे।
जो अखाद्य ताको नहिं खाइय, पाखँड उर नेकहु नहिं लाइय॥
करि उपाय छोड़हु विकलाई, सपने नहिं कीजे कुटिलाई।

दोहा।

शुष्क वैर हिंसा वृथा, निन्दा पर की तात।
राजधर्म को सोच कर, तजहु व्यर्थ जो बात॥
अति अहेर मदिरा जुआ, नारि नारि जित लोग।
अन्यायी नर को तथा, त्यागहु समुझि कुरोग॥
वैर न आदर मूर्ख सँग, मैत्री बुध जन साथ।
धर्म्मिन में सन्तोष करु, दया जो होइ अनाथ॥
अति अहार अतिक्रोध अरु, अतिश्रमता दुख जान।
अतिक्रीड़ा, अतिबोलिबो, तजत त्रास मतिमान॥
अति विद्या अति सुमति अरु, अति उछाह अति ख्याति।
अधिक पुण्य अति धीरता, साधहु सुत दिनराति॥
हो सकाम निज नारि में, क्रोधी अरि के बीच।
पुण्य बटोरहु लोभ गहि, निन्दित जानहु नीच॥

चौपाई।

जो नर होवे सहित पखंडा, करहु वैर तेहि साथ अखंडा।
जो कुमन्त्र कोउ सिखवे तोहीं, कहहु न समझ परत यह मोहीं॥
चुगली सुतन बहिर सम होऊ, फिर-फिर कहै सुनहु जनि सोऊ।
धूरत लोलुप शठ खल कर्मी, नास्तिक पतित हठी छल धर्मी॥
दैवयोग ते ये कहुँ आवें, दूरहु ते बोलन नहिं पावें।
निज गौरव निज मुख मति कहहू, परते सुनि सकुचित है रहहू॥
सुत कुटुम्ब नारी अरु वित्ता, होहु न अति तेहिबीच असक्ता।

दोहा।

मातु पिता अरु श्वशुर गुरु, और पतिव्रत नारि।
सज्जन जो बोलें वचन, करु विश्वास विचारि॥
सावधान होइ पालिए, सदा धर्म निज देह।
करु विश्वास न ताहि जो, नौकर हो निज गेह॥

दीन वृद्ध बालक त्रिया, बिन अपराध, अनाथ ।
तिनकी रक्षा कीजिए, वित्त बुद्धि बल साथ ॥

चौपाई ।

जाहि कबहुँ विश्वासहि दीजे, चोरहु होइ तो वध नहिं कीजे ।
पाप-हीन चह हो नर रंका, तिन में कबहुँ करिय नहिं शंका ॥
हो वध योग शत्रु अपकारी, शरण गहै तौ प्राण न मारी ।
नीच ऊँच गुरु लघु चह कोई, माँगे देहु वस्तु जो होई ॥
इहि विधि करु सुकीर्ति तजि दूषण, कीरति नृप सज्जनकर भूषण ।
लक्ष्मी कीरति ते विकसतु है, चन्द्र-सदृश नर तेज बढ़तु है ॥
हेम तुरँग गज रत्न अनीका, कीरति-हीन लगतु सब फीका ।

दोहा ।

जाते होइ अकीरति, तृणसम त्यागहु ताहि ।
कीरतियुत नृपकी प्रभा, विकसत त्रिभुवन माँहि ॥
मातु पिता कुलनाथ गुरु, विनययुक्त अरु साधु ।
डरत रहै जो इन सबन, क्षमा करहु अपराधु ॥
विद्यायुत अरु तापसिन, नित प्रति करहु सहाय ।
संकट ते विद्वान नर, नृप को लेत बचाय ॥
आयुर्बल-यश सौख्य धन, पुण्य प्रजादि प्रभाव ।
वृद्धि होत जेहि कर्म ते, सो सेवहु करि भाव ॥

सोरठा ।

देश शक्ति अरु काल, कार्य्य अकारज समझिकै ।
करु अरम्भ महिपाल, सावधान ह्वै यत्न ते ॥
जेहि कारण ते होइ, प्रजा दुखारी आपनी ।
करहिं न नृपवर सोइ, राजधर्म को मूल यह ॥
शत्रु दुष्टगण चोर, यथाशक्ति बँधिए सदा ।
जाते मचै न सोर, सुखसे सोवै जगत सब ॥

दोहा।

निद्रा भोजन कर्म में, आतुरता शुभ साज।
आतुरता नहिं कीजिए, धर्म्म कर्म्म के काज ॥
संगति कीजै साधु की, जो पण्डित बुधिमान।
साधारण हूँ वचन में, निकसत मुख ते ज्ञान ॥
मधुर मनोहर सत्ययुत, वचन बोलिए नित्य।
अक्षर कम अरु अर्थ बहु, जो नहिं होय अनित्य ॥

चौपाई।

भय न करिय जो होइ आपदा, गुरु तपसी अघ से डरु सदा।
जाति बंधु सुत मित्र सुनारी, सबमें करु समभाव विचारी ॥
बैठहिं भोजन पंगति जेते, इक सम जानि जिवाँवहु तेते।
सत उपदेश सुनहु मति यथा, विद्या धर्म सभा शुभ कथा ॥
पावन थल जहँ सज्जन वासा, प्रीतिसहित तहँ करहु निवासा।
जहँ कुदेश व्यभिचार कुमारी, नीच वास तहँ पाँव न धारी ॥
परमेश्वर के आश्रित रहहू, जीव चराचर को हित करहू।
सदा पवित्र दक्ष मन शांता, इन्द्रियजित ह्वै रहहु एकांता ॥
मुनि तापस विद्या व्रत धामा, मान्य पूज्य को करहु प्रणामा।

दोहा।

ब्रह्म मुहूरत में उठहु, करहु गुरू को ध्यान।
भजन करहु जगदीश को, जाते हो कल्यान ॥
चलत फिरत बैठत उठत, सोवत जागत आदि।
ताको नित ध्यावत रहो, जो प्रभु परम अनादि ॥
राजपुत्र ! संक्षेप से, कियो धर्म्म उपदेश।
औरो विधि तुम मानियो, जो कछु शास्त्र निदेश ॥

इस प्रकार भद्रायु नामक राजपुत्रको उपदेश दे ऋषभ-देव ने ईश्वरकवच पढ़ाया और एक शंख तथा एक खड्ग

देकर आशीर्वाद दिया और कहा कि हे पुत्र! इस कवच के प्रभाव से तुम्हारा शरीर रक्षित रहेगा और तुम्हारी मति पापकी ओर न चलेगी। इस खड्ग में तप-मन्त्रका इतना प्रभाव है कि इसे रणमें जो देखेगा वह अचेत हो-जायगा। इस शंख में इतना गुण है कि तुम्हारे शत्रु-गण युद्ध के समय इसका शब्द सुनेंगे तो उनके हाथके हथियार छूट जायँगे और मूर्च्छित होकर पृथ्वीतलमें गिर पड़ेंगे। लड़ाई में तुमसे कोई जीत न सकेगा। तुम अपने पिता के राजसिंहासनको पाकर पृथ्वी की रक्षा करोगे। इस प्रकार रानी और राजपुत्र को समझा-बुझाकर ऋषभदेव योगी अपनी इच्छानुसार किसी दूसरी ओर को चले गए।

भद्रायु के पिता दशार्णदेश के राजा वज्रबाहु की यह दशा हुई कि मगध नरेश हेमरथ से उसका बड़ा वैर बढ़ा और समय पाकर हेमरथ अपनी प्रबल सेना समेत दशार्णदेश को लूटता, मारता और गाँव-घर जलाता हुआ राजा वज्रबाहु की राजधानी के निकट पहुँचा और भाँति-भाँति के उत्पात करने लगा। जब मागधों के उपद्रव से अपने राज्य को व्याकुल देखा तो राजा वज्रबाहु भी सेना समेत युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर राधजानी से बाहर निकला और शत्रुओं से बहुत लड़ा। परन्तु अन्त में मागधों की जीत हुई। राजा हेमरथ ने राजा वज्रबाहु को मन्त्रियों समेत पकड़कर अपने अधीन कर लिया और उसकी राजधानी में घुसकर घोड़ा, हाथी, ऊंट, गाय, धन, धान्य, रत्नों और स्त्रियों को लूट लिया और जीत का डंका बजाता हुआ अपनी राजधानी की ओर चला। जब भद्रायु ने अपने पिता के बन्धन का वृत्तान्त वैश्यनगर में सुना,

उसी समय वह सिंह के समान क्रोध और ईर्षा से भर गया। अपने अस्त्रों को लेकर वैश्यपुत्र के साथ घोड़े पर चढ़कर, जहाँ मगधनरेश की सेना थी, पहुँचकर देखा कि पिता की बड़ी दीन दशा है। प्रजा अत्यन्त पीड़ित है। धन, पशु, राज, गृह, ऐश्वर्य आदि सभी लुट गया है। यह देखकर भद्रायु बड़े क्रोध से अपना धनुष चढ़ाकर शत्रुओं पर बाण-वृष्टि करने लगा। सम्पूर्ण शत्रुगणों ने भी राजपुत्र को चारों ओरसे घेरकर बाणों से आच्छादित कर दिया। परन्तु राजपुत्र उस स्थानसे पीछे तिल भर भी न हटा। बरन् गजेंद्र के समान शत्रु-रूपी पंजरों को तोड़ता और हाथी-घोड़े-रथ-रूपी वृक्षों को गिराता हुआ, रणभूमि के बीचमें घुसगया। वहाँ जाकर ऋषि की दी हुई उसी खड्ग से राजा और सारथी को मार कर उसके रथपर वैश्यपुत्रको साथ लेकर स्वयम् बैठा और रणभूमि में रथ को दौड़ा-दौड़ा कर शत्रुओं को इस प्रकार मारने लगा जैसे हरिण के झुण्डमें सिंह टूटता है। जब वैरियोंने राजपुत्र से अपनी सेनाको विनाश होते देखा तब चारों ओर से एकमत होकर हाथी, घोड़े, रथों और पैदलों से ऐसा घेर लिया कि उस राजपुत्रको बाहर निकलना असम्भव-सा होगया। तब उसने योगीश्वर के दिए हुए काल की जीभ के समान कराल धार खड्ग को मियानसे निकालकर चमकाया और शंखको बजाया। उस समय यह आश्चर्य हुआ कि शत्रुसेना में से जिसने खड्ग की चमक को देखा और जिसने शंख के शब्द को सुना, वे सब सवार और पैदल पृथ्वीपर गिरकर मूर्च्छित होगए। उनके हाथों से हथियार छूट पड़े। जब उसने हथियार से रहित और अचेत शत्रुओं

को देखा तब उन्हें मृतक के समान समझ धर्मशास्त्रको सोच वध करने से हाथ खींच लिया और शत्रु से बाँधे हुए अपने पिता और उसकी रानियों, मन्त्रियों, पुरवासियों तथा सम्पूर्ण स्त्रियों और कन्याओं को बन्धन से छुड़ाया। फिर लूटा हुआ पदार्थ और शत्रुसेना की सामग्री सब राजभण्डार में भरवा दी और जिसकी जो-जो वस्तु लूटी गई थी ढिंढोरा पिटवाकर उस-उस के पास पहुँचवा दी।

इस प्रकार राजपुत्र के अद्भुत और अमानुषिक कर्म और विचित्र पौरुष को देखकर राजा और मंत्री आदि चकित होकर यह कहने लगे कि यह कोई योगी या सिद्ध या देवता है, जिसे परमेश्वर ने हम दीनों को विपत्ति से छुड़ाने के लिये दया करके भेजा है। क्योंकि मनुष्यमें इतना पराक्रम होना कठिन है। इन्होंने हम सबों को मृत्युके मुखसे निकाला है। इस प्रकार जब सभी प्रशंसा कर रहे थे उसी समय राजा वज्रवाहु ने राजपुत्रको हृदयसे लगाकर आनन्द में मग्न हो यह कहने लगा कि आप देवता हैं या गन्धर्व या मनुष्य? आपके माता-पिता कौन हैं और आप किस देश में रहते हैं? आपका नाम क्या है? क्योंकर इतनी दया-दृष्टि से शत्रुओंसे बाँधे हुए हम सबोंको छुड़ाकर मृतकसे संजीवित किया? इतनी शूरता और वीरता तुमने कहाँसे पाई? हमारे साथ तुमने जैसा उपकार किया है, वैसा हम और हमारी रानियाँ, मंत्री और प्रजा लोग तुम्हारे उपकार का पलटा दिया चाहें, तो इस जन्म में तो क्या, सहस्र जन्म में भी नहीं दे

सकेंगे। हे वीर! तुम्हारे सामने ये सम्पूर्ण पुत्र और रानी तथा राज्य मुझे कोई भी प्रिय नहीं हैं।

इस प्रकार राजा के प्रश्न सुन भद्रायु राजपुत्र ने कहा कि यह वैश्य का पुत्र सुनय मेरा मित्र है और मैं इसीके घर में मातासमेत रहता हूँ। मेरा नाम भद्रायु है। शेष वृत्तान्त अपना पीछे से कहूँगा। अब तुम आनन्दपूर्वक राज्य करो और जबतक मैं न आऊँ, इन शत्रुओं को यत्न से बन्धन में रखना। मैं अपनी माता के निकट जाता हूँ। इस प्रकार राजा वज्रबाहु से बिदा होकर भद्रायु अपनी माता के निकट गया और उससे सब वृत्तान्त कह सुनाया। यह सुनकर माता पुत्र को हृदय से लगाकर आनन्द में विह्वल हो गई। वह वैश्यपति भी राजपुत्र को तथा निज पुत्र को अपने हृदय में लगाकर प्रशंसा करने लगा।

उसी रातको नैषध देश के राजा चन्द्रांगद से जाकर योगिराज ऋषभदेव ने राजपुत्र भद्रायु की सब व्यवस्था कही और आज्ञा दी कि तुम अपनी कन्या कीर्तिमालिनी का ब्याह उस राजपुत्र के साथ करदो। इस प्रकार समझाकर ऋषभदेव जब चले गये तब राजा चन्द्रांगदने भद्रायुको बुलाकर अपनी कन्या का ब्याह उसके साथ करके सोने के सिंहासन पर बैठा दिया। उस समय वह राजपुत्र ऐसा शोभित हुआ जैसे रोहिणी नक्षत्र के साथ पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभित होता है। उस ब्याह में अनेक राजा न्योते आए थे। उसमें भद्रायु का पिता वज्रबाहु भी था। जब उसने राजपुत्र को देखा तब उसे हृदय से लगालिया और राजा चन्द्रांगदसे कहने लगा कि यह वीर पुरुष हमारे प्राणका दाता है। अच्छा हुआ कि इसके साथ

आपकी राजपुत्री ब्याही गई । मैं इसके वंश और उत्पत्ति का वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ ।

राजा चन्द्रांगदने हँसकर कहा कि यह आपका वही पुत्र है जिसको आपने बालपने में माता-समेत रोगके कारण घर से निकालकर वनवास दिया था । यह माता-समेत वैश्यपति के घर में रहा और उसने बड़ी सेवा की । किन्तु रोग शांत न हुआ । एक दिन यह पुत्र मरगया और रानी रोरही थी । तब ईश्वरकी प्रेरणा से ऋषभदेवने आकर दया-युक्त होकर इसे सजीव किया और सज्ञान होनेपर कवच पढ़ाया; जिससे कई सहस्र हाथी का बल प्राप्त हुआ । शंख और खड्ग दिया कि जिसका प्रभाव तुम्हारे छुड़ाने के समय प्रकट हो चुका है । अतः हे राजन्! यह आपका पुत्र है और यह कन्या आपकी पतोहू है । ईश्वर ने वृद्धावस्था में तुम्हें दुर्लभ सुख दिया है उसे भोग करिए और प्रभुको धन्यवाद कीजिए ।

इस प्रकार का वृत्तान्त सुनाकर भद्रायुकी माता को जो वहीं गुप्त बैठी थी, बुलाकर दिखाया; जिसको देखकर और राजा चन्द्रांगदकी कही हुई बात सुनकर, अपने निन्दित कर्म को स्मरण कर राजा अति लज्जित हुआ और साथ ही आनन्द मग्न हो स्त्री-पुत्र दोनों को हृदय में लगा कर बड़े प्रेमसे मिला और अपने जन्म को कृतार्थ समझा । पुत्रका प्रभाव देख शोक-रहित होगया । जैसा नीति में लिखा है सत्य है—

दोहा ।

सोवै निर्भय सिंहिनी, इक सुपुत्र को पाय ।
दस कुपुत्र होते हुए, गदही लादी जाय ॥

इसके अनन्तर राजा चन्द्रांगदने भाँति-भाँति के दहेज देकर अपने सम्बन्धी राजा वज्रबाहुको स्त्री, पुत्र और पतोहू समेत बिदा किया। राजा वज्रबाहु ने अपनी राजधानी में पहुँचकर अपने खोए हुए स्त्री-पुत्र पानेके हर्ष में बड़ा दान और उत्साह किया। कुछ समयांतर में जब राजा वज्र-बाहु ने वैकुण्ठवास किया, राजा भद्रायु राजसिंहासन पर विराजमान हुआ। उस समय मगधदेश के मंत्री तथा सैनिक जो कैद थे, सबको बन्धन से छोड़ दिया और अपने देश-प्रबन्ध, और प्रजापालन में सदैव सावधान रहकर परमेश्वर का आमरण धन्यवाद के साथ कृतज्ञ रहा।

दोहा।

जो मन में आवै नहीं, चलै न नरगति कोइ।
ईश्वरकी गति अलख है, तृनहु कुलिश सम होइ॥
जाकी रक्षा जाहि विधि, हरि तैसी मति देत।
दै चपेट बड़ बालकहि, लघुहि गोद सब लेत॥
हरि इच्छा कहुँ दोष गुण, गुणहु दोष कहुँ होय।
अगिनदाह जिमि सरपतहि, जिमि जवास घन होय॥
परत प्रतीति न ईश में, ऐसिहु गति लखि सूध।
मलपूरित तन बाँच जो, बिलगावत है दूध॥

सप्तदश तरङ्ग ।

शिक्षा-ग्रहण की रीतियाँ ।

एक समय राजा यदु ने देखा कि एक अवधूत तपस्वी काम, क्रोध, लोभ, मोह और मात्सर्य से विनिर्मुक्त बालकों के समान शोक-चिंता से रहित और हृष्ट-पुष्ट, संतुष्टचित्त पूर्णकाम, आनन्द में मग्न और निःस्पृह हो कर पृथ्वी पर घूमता था। जब वह राजा के सन्निकट आया, तो राजा ने विनयपूर्वक पूछा कि आपने इन वृत्तियों को कहाँ से ग्रहण किया है; जो बालकों के समान सरलचित्त होकर पृथ्वी पर पर्य्यटन करते हो और सकल बुद्धि-विद्या-निधान होकर ऐसे भासित होते हो, जैसे जड़ और उन्मत्त हो। क्योंकि आपको किसी वस्तु की इच्छा और अनिच्छा दोनों ही नहीं हैं। यह संसार जो काम, लोभादि-रूपी दावाग्नि में जला जाता है, उसमें आप इस प्रकार हैं जैसे जलते हुए गाँव के निकट जलाशय में स्नान करता हुआ हाथी आँच से बचा रहता है। भगवन्! मैं आपसे पूछता हूँ कि आपमें संसारकी अनिष्ट वासनाओं के छूटने और आत्मानन्द होने का क्या कारण है?

इस प्रकार राजा यदु के प्रश्न को सुनकर अवधूत तपस्वीजी बोले कि राजा! मेरे चौबीस शिक्षागुरु हैं जिनसे मैंने बुद्धि-द्वारा शिक्षा ली है। जिससे जिस प्रकार मुझे

शिक्षा मिली और जो जैसा है, वह आपसे वर्णन करता हूँ आप सुनिये—

प्रथम शिक्षागुरु।

मेरा पहिला शिक्षागुरु पृथ्वी है कि उस से मैंने क्षमा-वृत्ति ग्रहण की है। देखो पृथ्वी पर कितने कुएँ, कितने तालाब, कितने गढ़े खोदे जाते हैं और किसान लोग जोतते हैं, उसी पर मल-मूत्र करते हैं और आग जलाते हैं। परन्तु पृथ्वी में इतनी क्षमा है कि वह किसी को कुछ नहीं कहती। वरन् पराए के लिए कितने वृक्षों, पर्वतों और नदियों को अपने ऊपर लिए है, जो उसके साथ बुराई भी करते हैं तो भी वह उनके साथ भलाई करती है—अर्थात् जो उस पर कुआँ खोदता है उसे पानी देती है, जो हल चलाते हैं उन्हें नाज देती और वृक्षों के फल और नदियों के जल के द्वारा लाभ पहुँचाती है तथा सबके अपराध को क्षमा करती है। उपकार-अपकार को समान जानती है। चाहे उस पर कोई वृक्ष लगावे और चाहे लगे हुए वृक्ष को काट डाले, वह किसी को कुछ नहीं कहती। इसी प्रकार मैं ने क्षमावृत्ति को धारण किया है। इसी से क्षमा सिखानेवाली मेरी गुरु पृथ्वी है।

दोहा।

लोक हेतु धारत धरा, निर्भर वृक्ष पहार।
चाहिय सोइ विधि साधुको, करे सदा उपकार॥

दूसरा शिक्षागुरु।

दोहा।

तजि इन्द्रिय प्रिय विषय को, प्राण वृत्ति दृढ़ धार।
क्षुधा विकलता से बचे, नाहिं मन बढ़े विकार॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा मैंने दूसरा शिक्षागुरु वायु को किया है। वायु दो प्रकार का है—एक प्राणवायु जो अंतःकरण में है और दूसरी वायु जो सर्वत्र व्यापी है। प्राणवायु की यह वृत्ति है कि वह केवल आहारमात्र में तृप्त रहती है। रूप, रसादिक जो इन्द्रियों के विषय हैं, उनकी इच्छा नहीं रखती। सो ऐसा ही मुनि को भी चाहिए कि देह के निर्वाहमात्र के लिए आहार करे। क्योंकि विना आहार मन की विकलता से ज्ञान का नाश होता है। और इतना बढ़कर आहार भी न करे कि उसकी अधिकता से ज्ञान जाता रहे। इस लिए मैं प्राणवायु के अनुसार देहनिर्वाह और क्षुधा निवारण मात्र के लिए आहार करलेता हूँ।

बाह्य वायु की यह वृत्ति है कि वह अनेक प्रकार के विषय और धर्म में प्रवेश करती है; परन्तु उन विषयों के गुण-दोष ग्रहण करने में लिप्त नहीं हो जाती—अर्थात् जब वायु सुगंध में जाता है तब सुगंधित और दुर्गंध वस्तु में प्राप्त होता है तब दुर्गंधित जान पड़ता है, परंतु वायु में सुगंध-दुर्गंध दोनों नहीं लिप्त होते। ऐसा ही मुनियों को चाहिये कि विषय में प्रवेश करके उसके गुण-दोष में लिप्त न हों। इसलिए मैं अपने को वायु के समान विषय के गुणों से पृथक् समझता हूँ। यह गुण मैंने वायु से सीखा है। इसलिए इसको सिखाने वाला वायु हमारा दूसरा गुरु है।

दोहा।

यथा वायु सब बस्तु में, प्रविशत-निकसत जान।
लिप्त होत गुण दोष नहिं, तथा आतमगति मान॥

तीसरा शिक्षागुरु।

दोहा।

जिमि अभिन्न नहिं भिन्न कहुँ, गगन चराचर व्यापि।
तिमि मुनि करै विभावना, ब्रह्म आतम इक थापि॥

तीसरा शिक्षागुरु मैंने आकाश को किया है। जैसे आकाश संपूर्ण जड़-चैतन्य वस्तु में व्याप्त है, परंतु वह न किसीसे मिला है और न किसीसे भिन्न है। उसमें पृथ्वी, अग्नि, वायु तथा जलके कालप्रेरित गुण भी नहीं प्रवेश करते। ऐसे ही मैं भी आकाश के समान अपनेको न सबमें मिला और न सबसे भिन्न समझता हूँ।

चौथा शिक्षागुरु।

दोहा।

जल जिमि निर्मल मधुर मृदु, करत ग्लानि को अंत।
पान किए देखे छुए, देत हर्ष तिमि संत॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! मैंने चौथा शिक्षागुरु जल को किया है। जैसे जलका स्वभाव निर्मल, कोमल और मधुर होता है और जो उसको देखता, छूता तथा पीता है उसे वह आनन्द देता है। ऐसेही सज्जन को चाहिए कि अन्तःकरणसे निर्मल रहे। सबसे प्रीति रक्खे और मधुर वचन कहे। जो उसके निकट आवे, ज्ञानोपदेश और उपकारके द्वारा उसको कृतार्थ करे। सो मैं भी जलकी वृत्ति धारण करके निर्मलांतःकरण और सब जनोंमें अनुरागवान् तथा मधुरभाषी होकर पृथ्वी पर घूमता हूँ। यह मेरा चौथा गुरु है।

पाँचवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

उदरपात्र तप तेज युत, सब भक्षी मल हीन।
पावक इक सम देख के, प्रभु गति लखै प्रवीन॥

अवधूत ने कहा कि हे राजन्! पाँचवाँ शिक्षागुरु मैंने अग्नि को किया है। जैसे अग्नि तप और तेज से प्रकाशित रहता है, किसीसे डरता नहीं। पेट को छोड़ दूसरा बर्तन नहीं रखता तथा सर्वभक्षी है—अर्थात् जो कुछ पाता है उसीको जला देता है—मल को नहीं प्राप्त होता; किन्तु सदा दीप्तिमान् भासित रहता है। कहीं छिपा रहता—जैसे काष्ठ और पाषाण आदि में और कहीं प्रकट रहता जिस से लोक का व्यवहार चलता है। जो अपना प्रयोजन समझते हैं सो अग्नि की सेवा है—अर्थात् कोई भोजन बनाता है; कोई तापकर शीत को मिटाता है और कोई अग्नि की सहायता से धातु का बर्तन, अस्त्र तथा आभरण बनाता है। देनेवालों की वस्तुको अग्नि तुरन्त खालेती है। सबमें एकरूप रहती है। हे राजन्! ऐसे ही सन्त को चाहिए कि सत् कर्म और तप के तेजसे प्रकाशित होकर निश्शङ्क रहे और पेट भरलेनेके अतिरिक्त संग्रह न करे। जो कुछ उत्तम-मध्यम आहार मिले, उसीको खाकर निर्मल बना रहे। कहीं गुप्त अर्थात् अपनी महिमा को छिपाए रहे और कहीं प्रकट होजावे। जैसे अग्नि सबमें एकरूप है परन्तु प्रत्येक काष्ठम प्रविष्ट हो तद्रूप भासित होता है। ऐसेही यह समझना चाहिए कि ईश्वर ने अपनी माया से भाँति-भाँति की नीच-ऊँच योनियाँ बनाई हैं। परन्तु चैतन्यरूप आत्मा सबमें समान है। इसलिए मैं

भी निश्शंक रहता हूँ और जो कुछ पाता हूँ उसे खालेता हूँ। भोजनमें बुरी भली वस्तुका विवेक नहीं रखता। कभी गुप्त रहता हूँ कभी प्रकट। आत्मा को सबमें एकसा देखता हूँ और जैसे अग्निकी चिनगारियाँ उड़ती हैं तथा बुझती हैं ऐसी ही देहधारियों की गति जानता हूँ।

छठा शिक्षागुरु।

दोहा।

कला घटतु अरु बढ़तु है, नहिं शशिमण्डल जानि।
जन्म मरण गति देह की, नहिं आतम पहिचानि॥

अवधूत ने कहा कि हे राजा! मैंने छठा शिक्षागुरु चन्द्रमाको किया है। ज्योतिःशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार चन्द्रमा जलका और सूर्य तेजका मंडल है। जब सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक नक्षत्र पर आजाते हैं तो चन्द्रमा नहीं देख पड़ता। क्योंकि सूर्यके मंडल के आड़ होजाने से वहाँ दृष्टि नहीं पड़ती। वही अमावस्या होती है। और चन्द्रमा साठ दण्ड में एक नक्षत्रसे दूसरे नक्षत्रपर जाता है। सूर्य तेरह दिन रात्रि में एक नक्षत्रको नाँघता है सो प्रतिपदा से लेकर सूर्य का मण्डल चन्द्रमण्डल से कुछ घटा-बढ़ा रहता है। सूर्यमण्डलका पंद्रहवाँ भाग जो चन्द्र-मण्डल में परछाहीं की भाँति पड़कर दिखाता है, वही कला के नामसे कहलाता है। इसी प्रकार पंद्रहवें दिन सत्ताईस नक्षत्रों का जो राशिचक्र है उनमें से तेरह नक्षत्रों को नाँघकर जब सूर्य-चन्द्रमा दोनों सम्मुख रहते हैं तब सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब पृथ्वी की छाया से लाञ्छित दिखाता है। वही पूर्णिमा होती है। उस दिन चन्द्रमा सोलहकला से युक्त रहता है।

फिर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से दोनों मंडलों के विषम भाग होने के कारण कलाओंकी घटती होती जाती है। सिद्धांत इसका यह कि चन्द्रमा जो जलका मंडल है, उसमें घटती नहीं होती। वह सदा ज्योंका त्यों रहता है। केवल कलाओं की वृद्धि-हानि होती रहती है।

इसी प्रकार मैंने समझ लिया कि वृद्धि-हानि, जन्म-मरण आदिक शरीरका स्वभाव है। आत्मा का नहीं—आत्मा चन्द्रमण्डल के समान सदा एकरस रहता है। इसी सिद्धान्त से चन्द्रमा को मैंने गुरु माना है।

सातवाँ शिक्षागुरु ।

दोहा ।

ग्रहण त्याग अभिमान नहिं, गुण से गुण को लेत।
साधुवृत्ति जिमि सूर्य की, काल पाइ फिर देत ॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! मैंने सातवाँ शिक्षागुरु सूर्य को माना है। जैसे सूर्य अपनी किरणों से पृथ्वीके जलको खींच लेता है और फिर समय पाकर वृष्टि कर देता है, उसके ग्रहण और त्यागका अभिमान नहीं रखता। वैसेही सज्जन को चाहिए कि जो गुण मिले उसे ग्रहण करे। फिर जो कोई अर्थी याचना करे उसे दे देवे। ऐसा अभिमान न रक्खे कि मुझे यह वस्तु मिली है और मैंने दिया, जैसे सूर्यका मंडल एकसा रहता है—परन्तु जिसमें पड़ता है वैसा ही भासित होने लगता है। अर्थात् छोटे पात्रके जल में छोटा, बड़ेमें बड़ा, लाल रंगमें लाल, काले रंगमें काला। यह केवल उपाधिभेद है। परन्तु सूर्य भेद-रहित है। इसी प्रकार आत्माकी गति समझना चाहिए कि वह अनेक रूपान्तरमें पड़के उपाधिभेद—अर्थात् जिसमें

पड़ गया है वैसाही मोटी बुद्धिवालों को भासित होता है। परन्तु वास्तव में वैसा वह नहीं है, वह केवल भ्रममात्र है आत्मा सूर्य के समान एकसा है।

आठवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

अति सनेह अति लाड़पन, जेहि काहू सँग होत।
सो पावत संताप बहु, जिमि दुख लह्यो कपोत॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा, आठवीं शिक्षा मैंने कपोत से ली है कि किसीके साथ अत्यन्त प्रीति और स्नेह न करना चाहिए। इसका वृत्तान्त इस प्रकार है कि एक वन में कोई कपोत स्त्री-समेत वृक्ष के खोढ़र में घर बनाकर रहता था और कपोत-कपोती का परस्पर हृदय से हृदय और दृष्टिसे दृष्टि और अंगसे अंग और बुद्धिसे बुद्धि स्नेहके फंदेमें बँधा हुआ था। सोते-जागते, बैठते-उठते, चलते-फिरते और खाते-पीतेमें दोनों एकतन थे, किसी समय पृथक् न होते थे।

इसप्रकार वनान्तरोंमें बिहरते-बिहरते कपोती में कपोत का मन ऐसा प्रीतिबद्ध होगया कि, जिस वस्तुकी वह अभिलाषा करती कपोत वह सब पूर्ण कर देता। कपोती ने पहिला गर्भ धारण किया और कई अंडे दिए। फिर कुछ दिनमें उनमें बच्चे उत्पन्न हुए और उनके कोमल अंगों पर रोम निकलने लगे। उन बच्चोंकी बालक्रीड़ा देख-देख और मधुर तोतरी बोली सुन-सुन कर कपोत और कपोती आनन्दित होते और उन्हें अपने अंगों में लगा लगाकर दुलारते और क्षणमात्र भी उनको आँखकी ओट न कर सक्ते थे। परस्पर प्रीति करते-करते वे आपसमें ऐसे स्नेह-

बद्ध होगए कि क्षणमात्र भी एक दूसरेके विना उनको प्राण धारण करना कठिन था ।

किसी समय कपोत और कपोती कुटुंबपालन के निमित्त दूसरे वनमें चारा ढूंढ़नेको गए और उनके घरके पास एक बहेलिया जाल फैलाकर उस पर चावल छोड़कर कहीं वृक्षकी ओटमें बैठ रहा । कपोतके बच्चे, जो छल कपटको न जानते थे, चावल चुगने को जाल पर उतरे और उसमें फँस गए । जब कपोती और कपोत चारा लेकर आए और बच्चोंको जाल में फँसा देखा तो विह्वल होकर रोने लगे । कपोती बालकों के स्नेह से बद्ध होकर आप भी जाल में कूद पड़ी । जब कपोत अकेला रह गया तब अपने प्यारे लड़कों और स्त्री को जाल में फँसा देख देख अधिक विलाप कर कहने लगा कि मैं बड़ा अभागा और पापिष्ठ ठहरा, कि अभी गृहस्थी के सुखसे तृप्त नहीं हुआ । मेरे प्यारे बच्चे जो प्राण से भी अधिक हैं और मेरी प्यारी स्त्री जो सदा मेरे अनुकूल रहती थी, मेरे देखते हुए जाल में पड़ी है । जब लड़के और स्त्री से रहित होगया तब मेरे जीने में क्या गुण है ? स्त्री पुत्रों के विना मुझे रात्रि दिन शोक दुःख की व्यथा उठानी पड़ेगी । इस प्रकार विलाप करके स्त्री और पुत्रों के स्नेह से बद्ध होकर कपोत भी जाल में कूद पड़ा । तब बहेलिया प्रसन्न होकर कुटुंब-समेत कपोत को पकड़ अपने घर चला गया ।

जबसे मैंने कपोत की यह दशा देखी तबसे मैं किसी के साथ स्नेह नहीं रखता । कुटुंबका संग्रह नहीं करता । मनुष्यको यह कभी न चाहिए कि स्त्री, पुत्रादि कुटुंब में स्नेहबद्ध होकर सारी चैतन्यताको नष्ट कर दें । मनुष्य के

साथ जितने ही अधिक संबंध लगाए गए हैं, उतना ही ईश्वर ने उसको अधिक ज्ञान दिया है। जैसे अंधेरे घरके लिए दीपक है उसे यदि कोई न जलावे और अंधेरेका दुःख सहे, तो उसमें किसका दोष है।

दोहा।

जो जग खगसम फँसि रह्यो, धन कुटुंब निज मान।
सुधि न करी परलोक की, सो पाछे पछितान॥
मानुष तन शुभ पाय के, जो न कियो भ्रम दूर।
धर्म गह्यो नहिं हरि भज्यो, कह तेहि सम को क्रूर॥

नवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

भोजन जो प्रारब्ध वश, सोइ करत नहिं यत्न।
अजगर को निर्वाह लखि, नहिं मुनि करत प्रयत्न॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! नवीं शिक्षा मुझे अजगर से मिली है। मैंने एक अजगर को देखा कि वह एक स्थान में पड़ा रहता था। कुछ अपने भोजन के लिए उपाय न करता था। जो कुछ दैवयोग से थोड़ा बहुत उसके मुँहके पास आजाता उसीको खालेता और जो कुछ आहार न मिलता तो अपने प्रारब्धको मुख्य समझ धीरताको धारण कर लेता था। कितने दिन-रात तक सोया करता था। फिर भी उसकी देह हृष्ट-पुष्ट और बल-तेज करके सदा युक्त रहती थी। कभी जागता और कभी सोता था। यद्यपि उसके सब इन्द्रियाँ थीं परन्तु वह किसी विषयकी अभि-लाषा न करता था।

अजगर से शिक्षा को ग्रहण करके उसीकी वृत्ति मैंने भी धारण की है। जो कुछ आहार दैव-प्रेरित विना प्रयत्न

किए आजाता है उसे खालेता हूँ और उसके मिलनेसे प्रसन्न नहीं होता हूँ; और जो नहीं मिलता तो उसका शोच नहीं करता हूँ। इसीसे मेरा यह शरीर सदा हृष्ट-पुष्ट और उत्साहवान् रहता है। क्योंकि मुझे किसी विषय की अभिलाषा नहीं है और न किसी बात की चिन्ता ही रहती है।

दोहा।

इन्द्रिय सुख दुख एकसे, स्वर्ग नरक में जान।
ताते बुध नहिं चहत हैं, दोनों समुझि समान ॥

दशवाँ शिक्षागुरु।

सोरठा।

जिमि सागर गंभीर, हानि लाभको शोच नहिं।
तिमि स्वभाव मुनि धीर, अति अगाध ईश्वर निरत ॥

अवधूत ने कहा कि दशवीं शिक्षा मुझे समुद्र से मिली है। इसलिए मेरा दशवाँ शिक्षागुरु समुद्र है। समुद्र को मैंने देखा कि वह सदा प्रसन्न और गंभीर रहता है। उसका पार और अन्त कोई नहीं पाता तथा विकार को कभी नहीं प्राप्त होता। सदा एकरस और परिपूर्णकाम रहता है। अर्थात् वर्षाकाल में अनेक नदियों के जल प्राप्त होनेसे न बढ़े और उष्णकाल में नदियोंके सूख जानेसे न घटे।

ऐसेही मुनिको भी चाहिए कि सदा प्रसन्नचित्त और गम्भीर रहे। किसीको हृदयका अन्त न मिले और न कोई तोल ही सके। न हानि में दुःखी हो और न लाभमें प्रसन्न। समुद्रके समान सदा एकरस रहे। इन वृत्तियोंको मैंने समुद्रसे सीखा है। इसलिए मैं सदा एकरस रहता हूँ। हानि लाभमें मर्याद से कभी घटता-बढ़ता नहीं हूँ।

ग्यारहवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

बरत दीप को भोग लखि, जिमि गिरि जरैं पतंग।
विषयी विनसत नारि में, साधु करत नहिं संग॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! मुझे ग्यारहवीं शिक्षा पाँखी से मिली। पाँखी बरते हुए अग्नि को सुशोभित देख उसमें भोग की इच्छा से गिरकर भस्म होजाती है। ऐसेही विषयी लोग, जो इन्द्रियों के वशीभूत हैं, स्त्रियों के रूप की लावण्यता और वस्त्र-आभरण की शोभा देख मोहित हो उनके संग में पड़के भ्रष्ट होजाते हैं। इसलिए मैं किसी रूपकी लावण्यता देखकर मोहित नहीं होता हूँ।

बारहवाँ शिक्षागुरु।

अवधूत ने कहा कि मैंने बारहवाँ शिक्षागुरु मधुकर अर्थात् भौंरे को किया है। वह सब फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस लेता है। ऐसाही मुनिको चाहिए कि थोड़ी-थोड़ी भिक्षा अनेक स्थान से लेकर देहका निर्वाह करे। एक गृहस्थको न सतावे जैसे भौंरा फूले हुए सुगंधित एकही कमल के फूल में तृष्णा-वश होकर रम रहता है और संध्याके समय कमलके संपुटित होने से बंधन में पड़ जाता है। ऐसेही, जो संत खाने-पीने के लालचसे एक ही स्थान में टिक रहता है वह भौंरे के समान बंधन में पड़जाता है; सो मैं भौंरे की शिक्षा को पाकर एक स्थानकी भिक्षाका लोलुप नहीं होता और जैसे भौंरा एक पुष्पकी सार वस्तुको ग्रहण करता है ऐसेही मैं शास्त्रके सारको लेता हूँ।

घरकी मक्खी से मैंने यह शिक्षा ली है कि वह

हाथ-पाँव से आहार को लेकर पेट में रख लेती है। संध्या या प्रातःकाल के लिए संग्रह नहीं करती। ऐसेही मुनिको चाहिए कि जितना हाथ में आवे या जितने से पेट भरे उतना ग्रहण करे और जो भोजन को विशेष यह सोच कर अधिक संग्रह करते हैं कि यह कल खाएँगे, यह परसों खाएँगे, वे मधुकी मक्खी के समान उस संगृहीत धन के साथ विनाशको प्राप्त होजाते हैं। मैंने वनमें देखा था कि मधु की मक्खियाँ मधु लगाती जाती थीं और इस विचारांश से न खाती थीं कि जब बहुतसा मधु इकट्ठा होगा तो खाएँगी, परन्तु जब बहुतसा मधु इकट्ठा हुआ तब किसी वनचर मनुष्य ने मसाल लेकर मक्खियों को जला दिया और सम्पूर्ण मधु निकाल लेगया। इसी प्रकार जो दान-भोग से रहित होकर धनका संग्रह करता है, वह धन-समेत विनाशको प्राप्त होजाता है। इसलिए हे राजन्! मैं भोजन को छोड़कर और कोई वस्तु संग्रह नहीं करता।

तेरहवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

चरणहुँ ते नहिं परसिए, जो काठहु की नारि।
गजपति बाँधे जात हैं, जाकी लखि अनुहारि॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! यह तेरहवीं शिक्षा मैंने हाथी से पाई है। बात यह है कि जो मनुष्य वनमें हाथी पकड़ते हैं वे एक बड़ा गढ़ा खोदकर उसे पतली लकड़ियों से पाटकर उसपर काठ की हथिनी बनाके खड़ी करदेते हैं। जब वनका हाथी उसे सच्ची हथिनी समझ कर उसके पास मिलने को जाता है तब उस गढ़े में जो तृणों से पटा

रहता है, उसके साथ आ गिरता है। जब बहुत दिन में बलहीन हो जाता है, तब वे मनुष्य उसको बाँध कर अपने आधीन करलेते हैं।

इसलिए मैं काठकी स्त्री से भी डरता हूँ और संतको चाहिए कि पर स्त्री को मृत्यु समान समझकर कभी उसके निकट न जावे। जैसे सच्ची हथिनी के कारण बलवान् हाथी निर्बल हाथी को मार डालता है ऐसाही निर्बल पुरुष स्त्री के कारण बलवान् पुरुषके हाथ से मारा जाता है। यही इस संसार में प्रायः देखा जाता है।

चौदहवाँ शिक्षागुरु।

अवधूत ने कहा कि मैंने चौदहवीं शिक्षा मधुहा अर्थात् मधु के निकालनेवाले से ली है। जैसे मधुकी मक्खियाँ छिपकर वृक्ष के खोड़र में बड़े श्रम से मधु लगाती हैं तथा न किसी को देवें, न आप खावें। परन्तु मधुका ढूंढ़नेवाला निकालकर खा ही जाता है। जो वह भी लालच से इकट्ठा करता है तो उस से भी कोई बलवान् छीनकर मधु खा जाता है। जो धन को बड़े श्रम और उद्योग से बटोरता है और यह समझकर गुप्त स्थान में रखता है कि इसको कोई नहीं जानता होगा। परंतु जो उस धनके ग्रहण में कुशल होता है वह निकाल ले जाता है। वह भी जो लोभ में आनकर एकत्र करता और बचाता है भोगता नहीं, तो उससे भी वह किसी-न-किसी भाँति छिन जाता है। क्योंकि धनकी तीन गति अवश्य होती हैं। दान, भोग और नाश। जो धन दान तथा भोग से रहित होता है वह तीसरी गति अर्थात् नाश को अवश्य प्राप्त होजाता है।

और मैंने इसी संबन्ध में एक यह बात भी सीखी है कि, जैसे मक्खियाँ बड़े श्रम और क्लेश से मधु लगातीं और वह खाने नहीं पातीं और मधुका काढ़नेवाला पहिले ही खाजाता है ऐसे ही गृहस्थ लोग बड़े श्रम और उपाय से धन बटोरकर भोजन बनाते हैं। उस समय जो अभ्यागत यती आता है तो वह उन से पहिले भोजन कर जाता है। इसका आशय यह है कि विना उद्यम के भी उत्तम भोग मिल जाता है। इसलिए त्यागियों को संग्रह का उद्यम न करना चाहिए। मैंने जब से इस वृत्ति को धारण कियाहै तब से मैं भी खानेका उद्यम नहीं करता परन्तु भोजन कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है।

दोहा।

दुख से संग्रह होत है, संग्रह में दुख भूरि।
जो बिन संग्रह सुख लहै, सो न करे किमि दूरि ॥

पन्द्रहवाँ शिक्षागुरु ।

दोहा।

गाँव गीत बनचर यती, सुने न कबहूँ कान ।
जो सुनि मोहित बिपिन में, हरिण भयो बिन प्रान ॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! यह पन्द्रहवाँ शिक्षा मुझे हरिणसे मिली है। मैंने देखा कि वन में एक बहलिये ने ऐसा बीन बजाया कि उसके शब्द सुनने से एक हरिण मोहित होकर उसके निकट आगया। जब बहलियेने उसे अचेत देखा तब ऐसा बाण मारा कि वह बेधित होकर गिर पड़ा और मरगया। स्त्रियोंका नाच देख और गाना-बजाना सुनकर संसार की वासना से अलग जो शृंगी ऋषि थे

वे भी मोहित होगए। इसलिए मुनिको विषयसंबंधी तानगान कभी न सुनना चाहिए।

सोलहवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

जीभ न जाके वस रहै, होत दुखी मतिहीन।
जिमि कटिया के माँसलगि, प्राण तजत है मीन॥

अवधूत ने कहा कि राजा! मैंने सोलहवीं शिक्षा मछली से ली है। जैसे अहेरी मछुआ लोहे के काँटे में थोड़ा सा मांस लगाकर जल में कटिया फेंक देता है। जब मछली लोभ से उस काँटे के मांसको खाने लगती है तब उसके मुँह में वह काँटा अटक जाता है। फिर वह मछुआ मछली को बाहर पटक कर मार डालता है।

ऐसे ही जो जीभके वशीभूत होते ह उनकी कुगति होती है और जीभ सब इन्द्रियों से प्रबल है। क्योंकि इन्द्रियों के जीतनेवाले बुद्धिमान् लोग आहार के घटाने से इन्द्रियों को शीघ्र जीत लेते हैं केवल एक जीभ को नहीं, क्योंकि वह विना आहार और बढ़ती है। जो यथेष्ट भोजन किया जाता है तो उससे सब इन्द्रियाँ प्रबल होजाती हैं। इसलिए औषध की भाँति इतना आहार करना चाहिए कि क्षुधा निवृत्त होजाय और इन्द्रियों के विषयों की अधिकता न हो। क्योंकि लिखा है कि—

श्लोक।

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते, यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

अर्थात् हरिण, हाथी, पाँखी, भौंरा, मछली, यह पाँचों एक-एक विषय के वश होकर नष्ट हो जाते हैं। अर्थात्—

हरिण में शब्द का विषय, हाथी में स्पर्श का विषय, पाँखी में रूप का विषय, भौंरे में गन्ध का विषय और मछली में रस का विषय होता है। ये पाँचों केवल एक-एक विषय के कारण नाश हो जाते हैं इसी प्रकार एक प्रमादी मनुष्य जो पाँचों इन्द्रियों से पाँचों विषयों को भोग करता है, सो क्योंकर न नाश होजाय। ईश्वर ने मनुष्यों को इन्हीं विषयों और उन्मादों से बचने के लिए उत्तम ज्ञान दिया है। जो मनुष्य का तन पाकर ज्ञान का अवलम्ब नहीं करता, वह बिना पूँछ-सींग का पशु है।

दोहा।

विषय तुल्य सब जीव में, मानुष में शुभ ज्ञान।
नर है नहिं समझे सोई, पशु बिन पूँछ बिषान॥

सत्रहवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

जो नर आशा फाँस से, बँधे सहत दुख भार।
ताको काटत है प्रबल, बिषय त्याग तरवार॥

अवधूत ने कहा कि हे राजा! तिरहुतदेश के राजा जनक के नगर में एक पिंगला नाम की वेश्या थी। उससे मैंने जो शिक्षा ली है, सो आपसे कहता हूँ। एक समय वह स्वैरिणी पिंगला अपने घर के द्वारे पर जो सड़कके किनारे पर था यथारुचि सुन्दर शृंगार करके इस प्रयोजनको मनमें ठान भीतर से बाहर और बाहर से भीतर आया जाया करती थी कि, इन पथिकों में से कोई ऐसा धनवान् पुरुष आये जो मेरे गाने-नाचने आदि हाव-भाव से प्रसन्न होकर बहुतसा धन दे। इसी अनुमान से वह जिसको आते देखती उसे जानती कि इससे मुझे

अधिक द्रव्य मिलेगी। जब वह आगे बढ़ जाता तब दूसरे पथिक को देख ऐसा ही विचार करती। परन्तु इसी आशा में न तो उसे नींद आई और न उस दिन इस प्रकार का कोई पुरुष ही आया कि जिससे उसकी अभिलाषा के अनुसार अधिक धन मिलता।

निदान जब आधीरात होगई और सड़क का चलना बन्द होगया तब उसका मुख धन की आशा टूट जाने से सूख गया। चित्त में दीनता आगई। उसके अन्तःकरण में ऐसी चिन्ता बढ़ी कि उसीसे सर्वस्व-त्याग-बुद्धि उत्पन्न होगई। बस जो कुछ हुआ सो हुआ, अब ऐसा न हो कि फिर ऐसे काम में लगूँ, इस प्रकार उसने त्याग-बुद्धि से आशा की रस्सीको काट डाला और जो उस समय गीत गाया वह आपको सुनाता हूँ—

चौपाई।

यह देखहु मम मूरखपना, हानि लाभ देखहुँ नहिं अपना।
विषय विवश बाढ़ो मन कामा, मानि नीच पति चाहत दामा॥
मोहिं सम मूढ़ पतित अज्ञानी, नहिं कोउ भयो न होइ है प्रानी।
जो पति सुखद चराचर नाथा, पालत सृजत रहत जन साथा॥
दुख भय शोक मोह तम नाशक,ज्ञान विमल द्युति चन्द्र प्रकाशक।
अस सत पति ताजि मैं मति हीना,भजत तुच्छ पति मल लै लीना॥
लोभी लम्पट कपट कृतघ्ना, पतित अपावन पाप निमग्ना।
वंचक परधन लूटन हारे, पिशुन जुआरी मद्य पियारे॥
दुराचार मिथ्या रत जोई, सपनेहु धर्म्म जान नहिं कोई।
तिन सँग तन बेचत धन लागी,धिक धिक को मुहिं सदृश अभागी॥

निन्दित कर्म ठानि दिन राती, निज तन क्लेश दियो बहु भाँती ।
हाड़ मांस मल मूत्र अगारा, अस तन लहि जो चहत विहारा ॥
मुहिं सम को विदेहपुर बीचा, मूरख पापराशि अति नीचा ।
जो तजि दीनबन्धु हितकारी, नीच सङ्ग महँ सौख्य विचारी ॥

दोहा ।

रक्षक प्रियतर सर्वगत, जो प्रभु कृपानिधान ।
ऐसे प्रभु के हाथ में, यह अनुचरी बिकान ॥

चौपाई ।

किमि प्रिय हित करि सक नर देवा, होत निरन्तर काल कलेवा ।
कोउ मम कर्म देखि प्रभु रीझे, निन्दित विषय त्याग मुहिं सूझे ॥
बिन प्रभुकृपा होत नहिं ज्ञाना, विना ज्ञान नहिं तन कल्याना ।
मन्द भाग्य मैं नहिं यहि योगा, जिमि करि कृपा हस्यो प्रभु सोगा ॥
विषय भोग तजि जो नित रहहीं, वह प्रभुभक्ति विरति इमि लहहीं ।
जो प्रभु मुहिं अघराशिहिं तारा, को तेहि सम अत्र कृपा अपारा ॥
धन्यवाद बहु कर प्रभु केरी, तजि भ्रम शरण गहत यह चेरी ।
यथा लाभ जीवत जग माहीं, प्रभु कृपया संशय कुछ नाहीं ॥
प्रभु प्रसाद विहरों मन माने, कौन वस्तु दुर्लभ तेहि जाने ।

दोहा ।

विषय विलोचन अंध करि, डार दियो तम कूप ।
को रक्षै प्रभु ईश बिनु, ग्रसत काल अहिरूप ॥
सब को रक्षक एक प्रभु, और न दूजो कोइ ।
जाको मन वैराग्य वश, जानत है यह सोइ ॥
विमल पाइ वैराग्य इमि, दई दुराशा त्याग ।
शांत चित्त उपजत भयो, ईश्वर महँ अनुराग ॥

सोरठा।

आशा दुःख कराल, और निराशा परमसुख।
ताको तजि महिपाल, सुख से सोई पिंगला॥

अठारहवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

यद्यपि प्रियतर लाभ है, वही दुःख को मूल।
बुद्धिमान धनहीन जो, सो सुख लहै अतूल॥

अवधूत ने कहा कि राजा! अठारहवीं शिक्षा मैंने कुररी अर्थात् चील्ह पक्षी से ली है। सो सुनिए। एक चील्ह मांस लिए जा रही थी। उसको देख कर कई एक पक्षी, जिनके पास मांस न था, उस पक्षी का मांस छीन लेने के प्रयोजन से, घेरकर मारने लगे। जब उसने मांसको फेंक दिया, तब उसको पक्षियों ने भी छोड़ दिया और उसका दुःख मिट गया।

इसी प्रकार जो धनके साथ रहता है उसको अनेक विघ्न घेरते हैं और जो धन पास नहीं रखता, उसे कोई भी नहीं पूछता। इसलिए मैं अपने पास थोड़ा भी धन नहीं रखता हूँ।

उन्नीसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

नहिं चिंता धन गेह की, नहीं मान अपमान।
बालक सम निजबोध में, भूले रहत अयान॥

अवधूत ने कहा कि राजा! उन्नीसवीं शिक्षा मैंने बालकों से ली है। जैसे बालक व्यावहारिक कार्य की चिन्ता रहित और आदर-अनादर, मान-अपमान के शोचसे पृथक् होकर

केवल अपने खेल में मग्न रहते हैं; इसी प्रकार मैं भी लड़कों के समान आदर-अनादर, मान-अपमान, वैर-प्रीति त्याग, चिन्ता और शोच से विनिर्मुक्त होकर आत्मानन्द के साथ पृथ्वीतल में घूमता हूँ। इसलिए उन्नीसवें शिक्षागुरु मेरे बालक हैं।

दोहा।

द्वौ निश्चिन्त आनन्दयुत, यह मत परम अगूढ़।
पारंगत जो गुणन ते, या जो होत विमूढ़॥

बीसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

कलह होत बहु वास में, वार्ता दोउ जन मेल।
लखि कुमारि कंकणगतिहिं, मुनिजन रहत अकेल॥

अवधूत ने कहा कि राजा! मैंने बीसवाँ गुरु एक कुमारी को किया है। उसका वृत्तान्त इस प्रकार है कि, एक कुमारीके यहाँ पाहुने आए। उस समय उसके बाप-भाई कहीं गए थे। इसलिए पाहुनों के शिष्टाचारका उपाय उसी को करना पड़ा। उनके भोजन के लिए वह धान कूटती थी। उस समय जो वह हाथों में चूड़ियाँ पहिने थी उनके आपस में लगने से चटाचट शब्द होने लगा। इस बात में उसने अपमान समझा कि, पाहुन ऐसा न जानें कि इसके घर में चावल नहीं है जो धान कूटती है। अतः उसने दो-दो चूड़ियाँ छोड़ के और सब उतारके रख दीं। जब दो-दो चूड़ियोंके रहने से भी शब्द होने लगा, तब उनमें से भी एक एक उतार डाली। जब एक-एक चूड़ी शेष रह गई तब शब्दका होना बंद होगया। उसी से

मैंने यह उपदेश सीखा कि देशाटन करने और आने-जाने के लिए अकेला रहना अच्छा है। क्योंकि जहाँ बहुतों का वास रहता है, वहाँ कलह होती है; और जहाँ दो का साथ हो वहाँ बात चीत रहती है। इसलिए मुनि को अकेला रहना चाहिए।

इक्कीसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

मन इकत्र करि ध्यान धरि, मुनिजन योग कमात।
शरकारक जिमि नहिं लख्यो, नृप गज रथ दल जात॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! इक्कीसवीं शिक्षा मैंने शरकृत् अर्थात् बाण के बनानेवाले से ली है। एक मनुष्य बाण बना रहा था। उसके पास होकर हाथी-घोड़ा समेत राजा की सेना और राजा निकल गया। उस समय हाथियों के घंटे और डंके का शब्द होता था। परंतु बाण बनानेवाले का चित्त बाण के बनाने में ऐसा एकाग्र होगया था कि उसे यह न ज्ञान पड़ा कि कहाँ से कौन आया, और कहाँ गया। उस सेना के लोग जो पीछे रहगये थे उन्होंने उससे पूछा कि हमारे महाराजा की सेना कितनी दूर बढ़ गई होगी। तब उसने शिर उठाकर देखा और अचंभित होकर कहा कि मैंने तो कोई सेना इधर जाते नहीं देखी; किसी और मार्ग होकर गई होगी। तब और लोगों ने कहा कि अभी तो बड़ी सेना गई है। तुम्हारा मन बाण बनाने में लग गया था। इसकारण तुम्हें नहीं जान पड़ी। तब उसे भी निश्चय हुआ कि यथार्थ में अभी कोई सेना गई है।

मैंने उसे इस आशय से गुरु किया कि मुनिको ऐसाही एकाग्रचित्त करना और ईश्वर का ध्यान लगाना चाहिए कि उसको छोड़कर दूसरी ओर मन चलायमान न हो। कोई सत्कर्म करना हो तो उसमें इसी प्रकार मनको एकाग्र करना चाहिए।

बाईसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

सावधान गहि मौनता, नहिं आचार लखाइ।
विचरत गृहरचना रहित, मुनि अहिकी गति पाइ॥

अवधूत ने कहा कि राजा! मैंने बाईसवीं शिक्षा सर्प से ली है। जैसे सर्प अकेला चलता और पराये के घरमें रहता है और यह नहीं जान पड़ता कि विष सहित है या निर्विष है। ऐसेही मुनि को चाहिए कि अकेला अपनी इच्छानुसार विचरा करे और किसी स्थान को अपना नियत स्थान समझ कर उसके साथ प्रीतियुक्त न हो। जब जहाँ प्राप्त हो उसी को स्थान समझे। सदैव सावधान रहे। आचारों से लखा न जाय और किसी के सहायता का अभिलाषी न रहे। थोड़ा बोले। इस प्रकार मैंने इन वृत्तियों को सर्प से सीखकर धारण की हैं।

तेईसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

जिमि मकड़ी निज पेट से, ताना तानि हरि लेइ।
तिमि मुनि लखि जगदीशको, सकल यतन तेहि सेइ॥

अवधूत ने कहा कि सुनो राजा! मैंने तेईसवीं शिक्षा मकड़ी से ली है। जैसे मकड़ी अपने पेटसे जाला बनाती है

और जब चाहती है तब अपने सब जाला को बटोर कर अकेली सो रहती है। उसके जाला फैलाने और बटोरनेमें कोई सहायक नहीं है। ऐसेही मैंने समझ लिया कि ईश्वर जब चाहता है तब अपनी इच्छा से सृष्टिको बनाकर बढ़ाता है और जब चाहता है तब सबको बटोर लेता है। सृष्टि की उत्पति, पालन और संहार में एक केवल चराचर का प्रभु ईश्वर कारण भूत है और दूसरा कोई नहीं है।

चौबीसवाँ शिक्षागुरु।

दोहा।

जामें कारण वश्य ते, जाको मन ठहरात।
सोई रूप सो होत जिमि, कीट भृङ्गि ह्वै जात॥

अवधूत ने कहा कि चौबीसवीं शिक्षा मैंने भृंगी से ली है। वह जिस कीड़े को अपने बिल में रख देती है और बाहर से आप मनमनाती है, उस कीड़े को उसका इतना डर समाजाता है कि वह पूर्व रूपको त्याग कर उसी के समान रूप हो जाता है। ऐसेही हे राजन्! मनुष्य का मन जहाँ कहीं एकाग्र होकर स्थिर बुद्धि के साथ स्नेह में वैर या भय से लगजाता है, वह उसके स्वरूप को प्राप्त होजाता है। इस प्रकार मैंने इन गुरुओं से यह मति सीखी है। दूसरे मेरा गुरु मेरी देह भी है, जो बुद्धि अपने देहसे सीखी है, वह भी सुनिए। यह इस प्रकार गुरु हुआ कि शरीर अनित्य, विनाशवान् और अनेक दुःखों का घर है। परन्तु इसी शरीर से ज्ञान और बुद्धि उत्पन्न होती है। अनेक सत्कर्म लौकिक-पारलौकिक इसी शरीर के द्वारा सिद्ध होते हैं। अंत में इसकी तीन गति होती हैं, कीड़ा, राख या विष्ठा। सो इन बातों को सोच कर मैं वासना रहित

होकर पृथ्वी में घूमता हूँ। क्योंकि यह शरीर स्त्री, पुत्र, कलत्र, पशु, भृत्य आदि को प्रिय जान कर अनेक उपाय करता है। परन्तु अन्त में कोई साथ नहीं देता। केवल सत्कर्म संग जाता है और लोक में कीर्ति बढ़ाता है।

श्लोक।

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्य्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे, कर्म्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

अर्थात् मनुष्य जिस द्रव्य के लिए अनेक प्रयत्न करता है सो मृत्यु के समय पृथ्वी में मिल जाता है। अपनी प्यारी स्त्री हेर-फेर कर घर के द्वार में रहती है। सम्पूर्ण इष्ट-मित्र श्मशान तक शरीर का साथ देते हैं और यह शरीर जिसको मनुष्य अपना समझता है सो भी श्मशान में रहजाता है। जीव के साथ जो कुछ शुभ वा अशुभ कर्म किया हुआ रहता है, वही साथ जाता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि असत्कर्म को छोड़ सत्कर्म में जी लगावे।

इसलिए मैं शरीररूपी गुरुकी शिक्षा से सांसारिक वासना और अहंकार को छोड़ ज्ञान-वैराग्य से युक्त होकर पृथ्वी में विचरता हूँ। और हे राजा! एक गुरुके सिखाने से तब तक निर्मल ज्ञान नहीं होता, जब तक अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक स्थान से शिक्षाको न ग्रहण करे। जितने गुरु होते हैं, तत्त्वों की एकत्रता और पृथकता बतलाते हैं, परन्तु वास्तविक, यथार्थ और सत्य परमगुरु एक ब्रह्मानन्दरूप ही है।

अवधूत ने इस प्रकार राजा यदुको उपदेश देकर अपनी इच्छानुसार राजा से बिदा होकर जैसे आया था उसी प्रकार चला गया। अवधूत के वाक्यों को सुनकर राजा

यदु ने सम्पूर्ण गर्व को छोड़ अपने चित्तको सम और स्थिर किया।

वागीशशर्म्मा ने कहा कि सुनो विद्यानिधि! जब सन्मित्र-शर्म्मा ने इस प्रकार राजा सुमति को नीति-विद्या सुनाकर विश्राम किया, तब राजा सुमति प्रेमानन्द से भर गया और बहुत उत्कण्ठित हो गया। स्नेह की अधिकता से सन्मित्र-शर्म्मा के शरीर से लिपट गया। सन्मित्रशर्मा ने राजपुत्र को अपने अंग में लगा लिया। उस समय उसको राजपुत्र की गुणज्ञता देखकर जो आनन्द हुआ वह वर्णन से बाहर है। निदान राजपुत्रने सन्मित्रशर्माको अपना मुख्य राजमंत्री नियत किया और धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

हे विद्यानिधि! जो-जो आख्यान और उपदेश मैंने सुनाए हैं उन्हें तू हृदय में धारण करके जहाँ चाहे सुख-पूर्वक राजद्वार में रहे। किसी प्रकार की भूल-चूक तुम से न होगी। मैं परमेश्वर के भरोसे पर आशीर्वाद देता हूँ कि जो कोई पूर्वोक्त आशयों को श्रद्धा-समेत तन्मयता से पढ़ेगा या सुनेगा, वह भाग्यहीन और बुद्धिहीन न रहेगा। प्रत्येक राजद्वार में आदर सन्मान पावेगा और अनेक कर्त्तव्य, काम-काजमें मोहित न होगा। सब प्रकार के व्यवहार को सावधानी से निवृत्त कर सकेगा और लोक-परलोक दोनों में सुख पाएगा।

दोहा।

संबत विक्रम भूप को, उन्निस सौ छब्बीस।
चैतसुदी तिथि द्वैजको, पूर कियो जगदीस॥
संबत ग्रह मुनि अंकभू, फागुन सुदी सुवेश।
तिथि पूनो को पाय यह, शोधन कियो 'सुरेश'॥